स्वर्गीय सेठ किसनदास पूनमचंदजी कापड़िया (सूरत)-
स्मारक ग्रन्थमाला नं० ३.

वीर सं० २४६० विक्रम सं० १९९० में हमने अपने पूज्य पिताजीके अंत समयपर २०००) इसलिये निकाले थे कि इस रकमको स्थायी रखकर उसकी आयमेंसे पूज्य पिताजीके स्मरणार्थ एक स्थायी ग्रन्थमाला निकाल कर उसका सुलभ प्रचार किया जावे।

इस प्रकार इस स्मारक ग्रन्थमालाकी स्थापना वीर सं० २४६२ में की गई और उसकी ओरसे आजतक—

१—पतितोद्धारक जैन धर्म।

२—संक्षिप्त जैन इतिहास तृतीय भाग द्वितीय खंड—

—ये दो ग्रन्थ प्रकट होकर 'दिगम्बर जैन'के ग्राहकोंको भेट दिये जाचुके हैं और यह तीसरी पुस्तक—श्री पंचस्तोत्रसंग्रह प्रकट की जारही है और 'दिगम्बर जैन' मासिकपत्रके ३३ वें वर्षके ग्राहकोंको भेंट दी जाती है।

ऐसी ही अनेक ग्रन्थमालाएं दिगम्बर जैन समाजमें स्थापित हों तो दिगम्बर जैन साहित्यका वहुत कुछ प्रचार सुलभतया हो सकेगा। मूलचन्द किसनदास कापड़िया,

—प्रकाशक।

समर्पण

प्रातःस्मरणीय न्यायाचार्य श्रीमान्-

पंडित गणेशप्रसादजी वर्णी-

-सागर हाल ईसरीकी पुनीत

सेवामें अनुवादक द्वारा

सादर समर्पित ।

दो शब्द।

जैन स्तोत्रोंमें 'भक्तामर', 'कल्याणमन्दिर', 'एकीभाव', 'विपापहार' और 'जिनचतुर्विंशतिका' इन पञ्च स्तोत्रोंका अच्छा सन्मान है, उसका कारण रचना-सौन्दर्य तो है ही पर प्रायः प्रत्येक स्तोत्रसे कुछ दैविक फल प्राप्त होनेका चमत्कार भी है। प्रसिद्ध है कि भक्तामर स्तोत्रके पाठसे आचार्य मानतुंग ४८ तालोंको तोड़कर अड़तालीस कोठोंसे वाहर आये थे, एकीभावस्तोत्रके पाठसे उसके वनानेवाले वादिराज मुनिका कोढ़ दूर हुआ था और विपापहार-स्तोत्रके पाठसे उसके रचयिता धनंजय सेठके लड़केका सर्पविप दूर हुआ था। शेप दो स्तोत्रोंका भी कुछ दैविक अतिशय अवश्य होगा, पर वह इस समय प्रसिद्ध नहीं है। सभी स्तोत्र अपने अपने ढंगके निराले ही हैं।

श्री भक्तामर और कल्याणमन्दिरकी शैली एकसी है, मालूम होता है कि कल्याणमन्दिर स्तोत्रकी रचना भक्तामर स्तोत्रको देखकर हुई है। इन दोनों स्तोत्रोंमें आराध्य देवके सुयशका वर्णन करते हुए अपने हृदयकी भक्ति वहुत ही अच्छे ढंगसे प्रकट की गई है। एकीभावकी रचनाका असर साक्षात् हृदयक्षेत्रपर पढ़ता है। यदि तन्मय होकर इस स्तोत्रका पाठ किया जावे तो मालूम होगा कि मैं वाह्य शब्दाडम्वरमें न पड़कर अपने हृदयकी बात भगवान्के चरणोंमें अर्पित कर रहा हूं।

विषापहारस्तोत्र कविकी चतुराईसे भरा हुआ है। उसके रचयिता द्विसन्धाच जैसे महाकाव्यके कर्त्ता धनंजय कवि हैं। सचमुच ये विषापहारस्तोत्र कविके हृदयसागरको मथकर निकला हुआ अमृत ही है। इसके प्रत्येक श्लोकमें अलौकिक चातुरी, शब्दमाधुरी और अर्थकी गम्भीरता भरी हुई है। जिनचतुर्विंशतिका स्तोत्रकी रचना भी अच्छी है। उसकी रचनासे मालूम होता है कि उसके रचयिता भूपाल कवि कोई भारी आलङ्कारिक विद्वान् होंगे। क्योंकि उसके प्रत्येक श्लोकोंमें प्रायः उपमा, रूपक आदि अलङ्कारोंकी छटा छिटकी हुई है।

ये पांचों स्तोत्र संस्कृत भाषामें लिखे गये हैं इसलिये इसके मूल आनन्दका अनुभव तो उन्हींको हो सक्ता है जो संस्कृत साहित्यके मर्मज्ञ विद्वान् हैं। जिस प्रकार मेघसे वर्षा हुआ पानी पृथिवी पर पड़कर गंदला हो जाता है—उसके स्वादमें अन्तर हो जाता है, उसी प्रकार किसी भी भाषाकी मूल रचनाको छोड़कर अन्य भाषाओंमें अनूदित होने पर उसका मूल रसास्वाद नहीं होने पाता। पर मेघकी जलधाराको आकाशमें चातक ही पी सक्ता है, बहु-जनसमूहके भाग्यमें तो वही पृथिवी-पतित पानी है। इसी तरह समयके दोषसे आज संस्कृत साहित्यके मर्मज्ञ विद्वान् बहुत अल्प रह गये इसलिये उनके सिवाय सिर्फ हिन्दीको जाननेवाला जनसमूह संस्कृत रचनाके रसास्वादसे वञ्चित रहता है।

यद्यपि जिनचतुर्विंशतिको छोड़कर शेष चार स्तोत्रोंका हिन्दी पद्योंमें भावानुवाद होचुका है तथापि जो संस्कृत शब्दका अर्थ जानते हुए उसका भाव जानना चाहते हैं उन्हें इन स्तोत्रोंका अन्वयपूर्वक शब्दार्थ बतलानेवाली टीकाकी आवश्यकताका अनुभव

होता रहता है। भक्तामर स्तोत्र और कल्याणमन्दिर स्तोत्रकी हिन्दी टीकाएं अन्वय अर्थपूर्वक प्रकाशित होचुकी हैं, परन्तु एकीभाव, विषापहार और चतुर्विंशतिकाकी हिन्दी टीका अभीतक अप्रकाशित हैं। मेरी इच्छा पांचों स्तोत्रोंकी संग्रह रूपसे टीका लिखनेकी थी और अनेक महाशयोंने कईवार इस विषयकी प्रेरणा भी कीं, पर समयाभावसे यह काम टलता गया। अब अवकाश पाकर मैंने इन स्तोत्रोंकी टीका लिखनेका प्रयत्न किया है। इस टीकासे जिनभक्त पाठकोंका कितना उपकार होगा, यह तो वे ही जान सकेंगे, पर मैं यह अवश्य लिख देना चाहता हूं कि मैंने श्लोकका भाव प्रकट करनेमें कोई कसर नहीं रख छोड़ी है। प्रत्येक श्लोकके अन्वयार्थके वाद भावार्थ दिया गया है जिससे श्लोकका गूढ़ अर्थ स्पष्ट होजाता है।

हम पहले लिख आये हैं कि विषापहारस्तोत्रमें अर्थगाम्भीर्य वहुत अधिक है। हमने अपने क्षयोपशमके अनुसार उसके भावार्थमें प्रत्येक श्लोकका तात्पर्य प्रकट किया है। तीन स्तोत्रोंकी टीका लिखते समय मेरे सामने सिर्फ "निर्णयसागर वम्बईमें प्रकाशित काव्य-मालाका सप्तम गुच्छक ही रहा है" जिसमें सब स्तोत्र मूल रूपसे प्रकाशित हैं। मुझे इन स्तोत्रोंकी संस्कृत टीकाएं सुलभतासे प्राप्त नहीं हो सकीं, इस वातका खेद है। संभव है कि संस्कृत टीकामें कई श्लोकोंके अर्थमें कुछ विशेषता भी हो। ऐसी अवस्थामें मैं पाठकोंसे सविनय प्रार्थना करता हूं कि वे मेरी अल्पज्ञता पर रोष प्रकट न कर क्षमा प्रदान करनेकी कृपा करेंगे। अलं विद्वत्सु।

सागर,
गुरुपूर्णिमा
वीर नि० २४६६

विनीत—
पन्नालाल जैन।

निवेदन।

दिगम्बर जैन समाजमें श्री भक्तामरस्तोत्र, कल्याणमंदिरस्तोत्र, एकीभावस्तोत्र, विषापहारस्तोत्र व जिनचतुर्विंशतिका स्तोत्रोंका पाठ करनेका सिलसिला तो वहुत है, लेकिन उन स्तोत्रोंका अर्थ वहुत ही कम लोग समझते हैं। अतः इन स्तोत्रोंका अन्वयार्थ, भावार्थ सहित प्रकट होना आवश्यक था। इनमें श्री भक्तामर व श्री कल्याणमंदिर स्तोत्रोंका अर्थ तो प्रगट होचुका है, लेकिन शेष तीन स्तोत्रोंका अर्थ प्रकट नहीं हुआ था। अतः दिगम्बर जैन समाजके उच्च विद्वान श्री० पं० पन्नालालजी जैन साहित्याचार्य सागरने नये सिलसिलेसे इन पांचों स्तोत्रोंका अन्वयार्थ भावार्थ तैयार कर दिया, जिसे प्रकट करते हुए हमें वहुत हर्ष होता है कि आपने इसे सिर्फ प्रचारकी दृष्टिसे सेवाभावसे यह कार्य करके दि० जैन साहित्यकी वड़ी भारी सेवा की है। अतः आप सारे जैन समाजके धन्यवादके पात्र हैं।

श्री मानतुंगाचार्यजीके ४८ वन्धनोंको छुड़ानेवाला—श्री भक्तामरस्तोत्र, संसारकष्टोंसे छुड़ानेवाला, उपद्रव—नाशक व अष्टकर्म-निवारक—श्री कल्याणमन्दिरस्तोत्र, वादिराज मुनिका कुष्ट-रोग निवारक श्री एकीभावस्तोत्र, श्री धनञ्जय सेठ-पुत्रका सर्प-

(पद्माकरेषु) तालावोंमें (जलजानि) कमलोंको (विकाशभाञ्जि) विकसित (कुरुते) करदेती है।

भावार्थ–प्रभो! आपके निर्दोष स्तवनमें तो अनन्त शक्ति है ही, पर आपकी पवित्र चर्चामें भी जीवोंके पाप नष्ट करनेकी सामर्थ्य है। जैसे कि सूर्यके दूर रहनेपर भी उसकी उज्वल किरणोंमें कमलोंको विकसित करनेकी सामर्थ्य रहती है ॥ ९ ॥

नात्यद्भुतं भुवनभूषण! भूतनाथ!
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥१०॥

अन्वयार्थ–(भुवनभूषण!) हे संसारके भूषण! (भूतनाथ!) हे प्राणियोंके स्वामी! (भूतैः) सच्चे (गुणैः) गुणोंके द्वारा (भवन्तम् अभिष्टुवन्तः) आपकी स्तुति करनेवाले पुरुष (भुवि) पृथिवी पर (भवतः) आपके (तुल्याः) वरावर (भवन्ति) होजाते हैं ('इदम्' अत्यद्भुतम् न) यह भारी आश्चर्यकी बात नहीं है (वा) अथवा (तेन) उस स्वामीसे (किम्) क्या प्रयोजन है? (यः) जो (इह) इस लोकमें (आश्रितम्) अपने आधीन पुरुषको (भूत्या) सम्पत्तिके द्वारा (आत्मसमम्) अपने वरावर (न करोति) नहीं करता।

भावार्थ-हे स्वामिन्! जिसतरह उत्तम मालिक अपने नौकरको सम्पत्ति देकर अपने समान बना लेता है, उसी तरह आप भी अपने भक्तको अपने समान शुद्ध बना लेते हैं ॥ १० ॥

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयं
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः।
पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धोः
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत ॥ ११ ॥

विषय--सूची ।

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

पंचस्तोत्रसंग्रह

(भाषानुवाद सहित)

[१]

श्रीमानतुङ्गाचार्य विरचित-

भक्तामरस्तोत्र।

[वसन्ततिलका छन्द]

भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणा-
मुद्योतकं दलितपापतमोवितानम्।
सम्यक्प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥ १ ॥

यः संस्तुतः सकलवाङ्मयतत्त्वबोधा-
दुद्भूतबुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितयचित्तहरैरुदारैः
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥ २ ॥
(युग्मम्)

१-द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम्।
कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ॥
जहां दो श्लोकोंमें क्रियाका अन्वय हो उसे युग्म, तीनमें हो उसे विशेपक, चारमें हो उसे कलाप और पांच छह आदिमें हो उसे कुलक कहते हैं।

अन्वयार्थ—(भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणाम्) भक्त देवोंके झुके हुए मुकुट सम्बन्धी रत्नोंकी कान्तिके (उद्योतकम्) प्रकाशक (दलितपापतमोवितानम्) पापरूपी अन्धकारके विस्तारको नष्ट करनेवाले और (युगादौ) युगके प्रारम्भमें (भवजले) संसाररूप जलमें (पतताम्) गिरते हुए (जनानाम्) प्राणियोंके (आलम्बनम्) आलम्बन-सहारे (जिनपादयुगम्) जिनेन्द्र भगवान्के दोनों चरणोंको (सम्यक्) अच्छी तरहसे (प्रणम्य) प्रणाम करके (यः) जो (सकलवाङ्मयतत्त्वबोधात्) समस्त द्वादशांगके ज्ञानसे (उद्भूत-बुद्धिपटुभिः) उत्पन्न हुई बुद्धिके द्वारा चतुर (सुरलोकनाथैः) इंद्रोंके द्वारा (जगत्त्रितयचित्तहरैः) तीनों लोकोंके प्राणियोंके चित्तको हरनेवाले और (उदारैः) उत्कृष्ट (स्तोत्रैः) स्तोत्रोंके (संस्तुतः) स्तुत किये गये थे (तम्) उन (प्रथमम्) पहले (जिनेन्द्रम्) जिनेन्द्र ऋषभनाथको (अहम् अपि) मैं भी (किल) निश्चयसे (स्तोष्ये) स्तुत करूँगा ।

भावार्थ—देवोंके द्वारा पूजित पाप-समूहको नष्ट करनेवाले और हितका उपदेश देकर प्राणियोंको संसार—समुद्रसे निकालनेवाले जिनेन्द्र भगवान्के चरणोंको नमस्कारकर मैं भी उन भगवान ऋषभनाथकी स्तुति करूंगा जिनकी कि स्तुति स्वर्गके इन्द्रोंने मनोहर स्तोत्रोंके द्वारा की थी ॥ १ ॥ २ ॥

बुद्ध्या विनापि विबुधार्चितपादपीठ !
स्तोतुं समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहम् ।
बालं विहाय जलसंस्थितमिन्दुबिम्ब-
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ॥३॥

अन्वयार्थ—(विबुधार्चितपादपीठ !) देवोंके द्वारा पूजित है

पादपीठ—पैर रखनेकी चौकी जिनकी ऐसे हे जिनेन्द्र! (विगतत्रपः) लज्जा-रहित (अहम्) मैं (बुद्ध्या विना अपि) बुद्धिके विना भी (स्तोतुम्) स्तुति करनेके लिये (समुद्यतमति 'भवामि') तत्पर होरहा हूं (बालम्) बालक—मूर्खको (विहाय) छोड़कर (अन्यः) दूसरा (कः जनः) कौन मनुष्य (जलसंस्थितम्) जलमें प्रतिबिम्बित (इन्दुबिम्बम्) चन्द्रमण्डलको (सहसा) विना विचारे (ग्रहीतुम्) पकड़नेकी (इच्छति) इच्छा करता है ? अर्थात् कोई भी नहीं।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र! जिसतरह लज्जा रहित बालक जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाको पकड़ना चाहता है, उसीतरह लज्जारहित मैं बुद्धिके विना भी आपकी स्तुति करना चाहता हूं ॥ ३ ॥

वक्तुं गुणान् गुणसमुद्र ! शशाङ्ककान्ता-
न्कस्ते क्षमः सुरगुरुप्रतिमोऽपि बुद्ध्या।
कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रं
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ॥४॥

अन्वयार्थ—(गुणसमुद्र!) हे गुणोंके समुद्र! (बुद्ध्या) बुद्धिके द्वारा (सुरगुरुप्रतिमः अपि) बृहस्पतिके सदृश भी (कः) कौन पुरुप (ते) आपके (शशाङ्ककान्तान्) चन्द्रमाके समान सुन्दर (गुणान्) गुणोंको (वक्तुम्) कहनेके लिये (क्षमः) समर्थ हैं ? अर्थात् कोई नहीं (वा) अथवा (कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रम्) प्रलयकालकी वायुके द्वारा प्रचण्ड है मगरमच्छोंका समूह जिसमें ऐसे (अम्बुनिधिम्) समुद्रको (भुजाभ्याम्) भुजाओंके द्वारा (तरीतुम्) तैरनेके लिये (कः अलम्) कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ—हे नाथ! जिसतरह प्रलयकालकी तीक्ष्ण वायुसे लहराते और हिंसक जलजन्तुओंसे भरेहुए समुद्रको कोई भुजाओंसे

नहीं तैर सकता, उसी तरह कोई अत्यन्त बुद्धिमान होनेपर भी आपके निर्मल गुणोंका वर्णन नहीं कर सकता ॥ ४ ॥

सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश !
कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः ।
प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्य मृगो मृगेन्द्रं
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(मुनीश) हे मुनियोंके ईश ! (तथापि) तो भी (सः अहम्) मैं—अल्पज्ञ (विगतशक्तिः अपि 'सन्') शक्ति रहित होता हुआ भी (भक्तिवशात्) भक्तिके वशसे (तव) आपकी (स्तवम्) स्तुति (कर्तुम्) करनेके लिये (प्रवृत्तः) तैयार हुआ हूं (मृगः) हरिण (आत्मवीर्यम् अविचार्य) अपनी शक्तिका विचार न कर केवल (प्रीत्या) प्रेमके द्वारा (निजशिशोः) अपने बच्चेकी (परिपालनार्थम्) रक्षाके लिये (किम्) क्या (मृगेन्द्रम् न अभ्येति) सिंहके सामने नहीं जाता ? अर्थात् जाता है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जिसतरह हरिण शक्ति न रहते हुए भी सिर्फ प्रीतिसे बच्चेकी रक्षाके लिये सिंहका सामना करता है, उसी-तरह मैं भी शक्ति न होनेपर भी सिर्फ भक्तिसे आपका स्तवन करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूं ॥ ५ ॥

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम् ।
यत्कोकिलः किलमधौ मधुरं विरौति
तच्चारुचूतकलिकानिकरैकहेतुः ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(अल्पश्रुतम्) अल्पज्ञानी अतएव (श्रुतवताम्)

विद्वानोंकी (परिहासधाम) हँसीके स्थान स्वरूप (माम्) मुझको (त्वद्भक्तिः एव) आपकी भक्ति ही (वलात्) जबरन (मुखरीकुरुते) बाचाल कर रही है। (किल) निश्चयसे (मधौ) वसन्त ऋतुमें (कोकिलः) कोयल (यत्) जो (मधुरम् विरौति) मीठे शब्द करती है (तत्) वह (चारुचूतकलिकानिकरैकहेतुः) आमकी सुन्दर मञ्जरीके समूहके कारण ही करती है।

भावार्थ–हे भगवन्! जिस तरह मूर्ख कोयल वसन्त ऋतुमें आम्र मञ्जरीके कारण मीठे मीठे शब्द बोलने लगती है उसी तरह मैं भी अल्पज्ञानी होता हुआ भी सिर्फ भक्तिसे आपकी स्तुति कर-रहा हूं ॥ ६ ॥

त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्धं
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।
आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ–(त्वत्संस्तवेन) आपकी स्तुतिसे (शरीरभाजाम्) प्राणियोंके (भवसन्ततिसन्निबद्धम्) अनेक भवोंके बँधे हुए (पापम्) पापकर्म, (आक्रान्तलोकम्) सम्पूर्ण लोकमें फैले हुए, (अलिनीलम्) भौंरोंके समान काले (सूर्यांशुभिन्नम्) सूर्यकी किरणोंसे खण्डित (शार्वरम्) रात्रि सम्बन्धी (अशेषम्) समस्त (अन्धकारम् इव) अन्धकारकी तरह (क्षणात्) क्षणभरमें (आशु) शीघ्र ही (क्षयम्) विनाशको (उपैति) प्राप्त होजाते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ–हे नाथ! जिसतरह सूर्यकी किरणों द्वारा रात्रिका समस्त अन्धकार नष्ट होजाता है उसीतरह आपके स्तोत्रसे प्राणियोंके जन्म जन्ममें एकत्रित हुए पाप नष्ट होजाते हैं ॥ ७ ॥

मत्वेति नाथ तव संस्तवनं मयेद-

मारभ्यते तनुधियापि तव प्रभावात् ।

चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु

मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ-(नाथ !) हे स्वामिन् ! (इति मत्वा) ऐसा मानकर (मया तनुधिया अपि) मुझ मन्द बुद्धिके द्वारा भी (तव) आपका (इदम्) यह (संस्तवनम्) स्तवन (आरभ्यते) प्रारम्भ किया जाता है। जोकि (तव प्रभावात्) आपके प्रभावसे (सताम्) सज्जनोंके (चेतः) चित्तको (हरिष्यति) हरेगा। (ननु) निश्चयसे (उदबिन्दुः) पानीकी बूँद (नलिनीदलेषु) कमलिनीके पत्तोंपर (मुक्ताफलद्युतिम्) मोती जैसी कान्तिको (उपैति) प्राप्त होती है।

भावार्थ-हे नाथ ! जिस तरह कमलिनीके पत्रपर पड़ी हुई पानीकी बूँदें मोतीकी तरह सुन्दर दिखकर लोगोंके चित्तको हरती है उसीतरह मुझ अल्पज्ञके द्वारा की हुई स्तुति भी आपके प्रभावसे सज्जनोंके चित्तको हरेगी ॥ ८ ॥

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं

त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति ।

दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव

पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ-(अस्तसमस्तदोषम्) सम्पूर्ण दोषोंसे रहित (तव स्तवनम्) आपका स्तवन (आस्ताम्) दूर रहे किन्तु (त्वत्संकथा अपि) आपकी पवित्र कथा भी (जगताम्) जगतके जीवोंके (दुरितानि) पापोंको (हन्ति) नष्ट कर देती है (सहस्रकिरणः) सूर्य (दूरे 'अस्ति') दूर रहता है, पर उसकी (प्रभा एव) प्रभा ही

(पद्माकरेषु) तालावोंमें (जलजानि) कमलोंको (विकाशभाञ्जि) विकसित (कुरुते) करदेती है।

भावार्थ–प्रभो ! आपके निर्दोष स्तवनमें तो अनन्त शक्ति है ही, पर आपकी पवित्र चर्चामें भी जीवोंके पाप नष्ट करनेकी सामर्थ्य है। जैसे कि सूर्यके दूर रहनेपर भी उसकी उज्वल किरणोंमें कमलोंको विकसित करनेकी सामर्थ्य रहती है ॥ ९ ॥

नात्यद्भुतं भुवनभूषण ! भूतनाथ !
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥१०॥

अन्वयार्थ–(भुवनभूषण !) हे संसारके भूषण ! (भूतनाथ !) हे प्राणियोंके स्वामी ! (भूतैः) सच्चे (गुणैः) गुणोंके द्वारा (भवन्तम् अभिष्टुवन्तः) आपकी स्तुति करनेवाले पुरुष (भुवि) पृथिवी पर (भवतः) आपके (तुल्याः) बराबर (भवन्ति) होजाते हैं ('इदम्' अत्यद्भुतम् न) यह भारी आश्चर्यकी बात नहीं है (वा) अथवा (तेन) उस स्वामीसे (किम्) क्या प्रयोजन है ? (यः) जो (इह) इस लोकमें (आश्रितम्) अपने आधीन पुरुषको (भूत्या) सम्पत्तिके द्वारा (आत्मसमम्) अपने बराबर (न करोति) नहीं करता।

भावार्थ- हे स्वामिन् ! जिसतरह उत्तम मालिक अपने नौकरको सम्पत्ति देकर अपने समान बना लेता है, उसी तरह आप भी अपने भक्तको अपने समान शुद्ध बना लेते हैं ॥ १० ॥

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयं
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः ।
पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धोः
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत् ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ (अनिमेषविलोकनीयम्) विना पलक झपाये-एकटक देखनेके योग्य (भवन्तम्) आपको (दृष्ट्वा) देखकर (जनस्य) मनुष्योंके (चक्षुः) नेत्र (अन्यत्र) दूसरी जगह (तोषम्) सन्तोषको (न उपयाति) प्राप्त नहीं होते। (दुग्धसिन्धोः) क्षीरसमुद्रके (शशिकरद्युति) चन्द्रमाके समान कान्तिवाले (पयः) पानीको (पीत्वा) पीकर (कः) कौन पुरुष (जलनिधेः) समुद्रके (क्षारम्) खारे (जलम्) पानीको (रसितुम् इच्छेत्) पीना चाहेगा? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ—हे भगवन्! जिस तरह क्षीरसमुद्रके निर्मल जलको पीनेवाला मनुष्य अन्य समुद्रके खारे पानीको पीनेकी इच्छा नहीं करता उसी तरह आपके सुन्दर रूपको देखनेवाले मनुष्य किसी दूसरे सुन्दर पदार्थको नहीं देखना चाहते। आप सबसे अधिक सुन्दर हैं॥ ११॥

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत!।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां
यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति॥ १२॥

अन्वयार्थ—(त्रिभुवनैकललामभूत!) हे त्रिभुवनके एक आभूषण! (त्वम्) आप (यैः) जिन (शान्तरागरुचिभिः) रागरहित उज्ज्वल (परमाणुभिः) परमाणुओंके द्वारा (निर्मापितः) रचे गये हैं (खलु) निश्चयसे (पृथिव्याम्) पृथिवीपर (ते अणवः अपि) वे अणु भी (तावन्तः एव 'बभूवुः') उतने ही थे (यत्) क्योंकि (ते समानम्) आपके समान (अपरम्) दूसरा (रूपम्) रूप (नहि) नहीं (अस्ति) है।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! जिनपरमाणुओंसे आपकी रचना हुई है, मालूम होता है कि वे परमाणु उतने ही थे। यदि उससे अधिक होते तो आपके समान दूसरा रूप भी होना चाहिये था, पर दूसरा रूप है नहीं इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे उतने ही थे। भगवन् ! आप अद्वितीय सुन्दर हैं ॥ १२ ॥

वक्त्रं क्व ते सुरनरोरगनेत्रहारि
निःशेपनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम् ।
बिंबं कलङ्कमलिनं क्व निशाकरस्य
यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ-(सुरनरोरगनेत्रहारि) देव, मनुष्य तथा धरणेन्द्रके नेत्रोंको हरण करनेवाला एवं (निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम्) सम्पूर्णरूपसे जीत लिया है तीनों जगतकी उपमाओंको जिसने ऐसा (ते वक्त्रम्) आपका मुख (क्व) कहां और (कलंकमलिनम्) कलङ्कसे मलीन (निशाकरस्य) चन्द्रमाका ('तद्' बिम्बम्) वह मण्डल (क्व) कहां (यत्) जो (वासरे) दिनमें (पलाशकल्पम्) ढाकके पत्तेकी तरह (पाण्डु) फीका (भवति) होजाता है।

भावार्थ—नाथ ! जो लोग आपके मुखको चन्द्रमाकी उपमा देते हैं वे गलती करते हैं। क्योंकि आपके मुखकी शोभा कभी नष्ट नहीं होती और चन्द्रमाकी शोभा दिनमें नष्ट होजाती है, इसके अतिरिक्त वह कलंकी है और आपका मुख कलंक रहित है ॥१३॥

सम्पूर्णमण्डलशशाङ्ककलाकलाप-
शुभ्रागुणास्त्रिभुवनं तव लङ्घयंति ।
ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वरनाथमेकं
कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम् ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ–(सम्पूर्णमण्डलशशांककलाकलाप शुभ्राः) पूर्ण चन्द्र-विम्बकी कलाओंके समूहके समान स्वच्छ (तव) आपके (गुणाः) गुण (त्रिभुवनम्) तीन लोकोंको (लंघयन्ति) लांघ रहे हैं–सब जगह फैले हुए हैं (ये) जो (एकम्) मुख्य (त्रिजगदीश्वरनाथम्) तीनों लोकोंके नाथोंके नाथके (संश्रिताः) आश्रित हैं (तान्) उन्हें (यथेष्टम्) इच्छानुसार (संचरतः 'सतः') घूमते हुए (कः) कौन (निवारयति) रोकता है ? कोई नहीं ।

भावार्थ–हे भगवन्! जिस प्रकार किसी राजाधिराजके आश्रित रहनेवाले पुरुषोंको इच्छानुसार जहां तहां घूमते रहते कोई नहीं रोक सकता उसी प्रकार आपके आश्रित रहनेवाले कीर्ति आदि गुणोंको तीनों लोकोंमें कोई नहीं रोक सकता । आपके गुण सब जगह फैले हुए हैं ॥ १४ ॥

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि–
नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन
किं मन्दराद्रि शिखरं चलितं कदाचित ॥१५॥

अन्वयार्थ–(यदि) यदि (ते) आपका (मनः) मन (त्रिदशाङ्गनाभिः) देवाङ्गनाओंके द्वारा (मनाक् अपि) थोड़े भी (विकारमार्गम्) विकारभावको (न नीतम्) प्राप्त नहीं कराया जासका है (तर्हि) तो (अत्र) इस विषयमें (चित्रम् किम्) आश्चर्य ही क्या है ? (चलिताचलेन) पहाड़ोंको हिला देनेवाली (कल्पांतकालमरुता) प्रलयकालकी पवनके द्वारा (किम्) क्या (कदाचित्) कभी (मन्दराद्रिशिखरम) मेरु पर्वतका शिखर (चलितम्) हिलाया गया है ? अर्थात् नहीं ।

भावार्थ-हे नाथ! जिस तरह प्रलयकालकी प्रचण्ड पवनके द्वारा मेरु पर्वत नहीं हिलाया जासकता, उसी तरह देवाङ्गनाओंके हावभावों द्वारा आपका मन-सुमेरु भी नहीं हिलाया जासक्ता-आपका धैर्य अतुल है और आपने मनको अपने वश कर लिया है ॥ १५ ॥

निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूरः
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि ।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाशः ॥१६॥

अनन्वार्थ-(नाथ!) हे स्वामिन्! आप (निर्धूमवर्तिः) धुआं तथा वत्तीसे रहित निर्दोष प्रवृत्तिवाले और (अपवर्जिततैलपूरः) तैलसे शून्य [भूत्वा अपि] होकर भी (इदम्) इस (कृत्स्नम्) समस्त (जगत्त्रयम्) त्रिभुवनको (प्रकटीकरोषि) प्रकाशित कर रहे हो तथा (चलिताचलानाम्) पहाड़ोंको हिला देनेवाली (मरुताम्) वायुके भी (जातु) कभी (गम्यः न) गम्य नहीं हो-वायु बुझा नहीं सक्ती। इस तरह (त्वम्) आप (जगत्प्रकाशः) संसारको प्रकाशित करनेवाले (अपरः दीपः) अपूर्व दीपक (असि) हो।

भावार्थ-हे नाथ! आप समस्त संसारको प्रकाशित करनेवाले अनोखे दीपक हैं क्योंकि अन्य दीपकोंकी वत्तीसे धुआं निकलता रहता है पर आपकी वर्ति-मार्ग निर्धूम-पाप रहित है। अन्य दीपक तेलकी सहायतासे प्रकाश फैलाते हैं पर आप विना किसीकी सहायताके ही प्रकाश-ज्ञान फैलाते हैं। अन्य दीपक हवासे नष्ट होजाते हैं पर आप अविनाशी हैं। तथा अन्य दीपक थोड़ीसी जगहको प्रकाशित करते हैं पर आप समस्त लोकको प्रकाशित करते हैं ॥ १६ ॥

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः
स्पष्टीकरोपि सहसा युगपज्जगन्ति ।
नाम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावः
सूर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्र लोके ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(मुनीन्द्र) हे मुनियोंके इन्द्र! (त्वम्) तुम (कदाचित्) कभी (न अस्तम् उपयासि) न अस्त होते हो (न राहुगम्यः) न राहुके द्वारा ग्रसे जाते हो और (न अम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावः) न मेघके मध्यमें छिप गया है महान् तेज जिसका ऐसे भी हो तथा (युगपत्) एकसाथ (जगन्ति) तीनों लोकोंको (सहसा) शीघ्र ही (स्पष्टीकरोपि) प्रकाशित करते हो (इति) इस तरह आप (सूर्यातिशायिमहिमा असि) सूर्यसे अधिक महिमावाले हो।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपकी महिमा सूर्यसे भी अधिक है। क्योंकि सूर्य सन्ध्याके समय अस्त होजाता है, पर आप कभी अस्त नहीं होते । सूर्यको राहु ग्रस लेता है, पर आपको वह आजतक भी नहीं ग्रस सका है। सूर्य दिनमें क्रम क्रमसे सिर्फ मध्यलोकको प्रकाशित करता है, पर आप एकसाथ समस्त लोकको प्रकाशित करते हैं और सूर्यके तेजको मेघ रोक लेते हैं, पर आपके ज्ञान-तेजको कोई नहीं रोक सकता ॥ १७ ॥

नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारं
गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम् ।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति
विद्योतयज्जगदपूर्वशशाङ्कबिम्बम् ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(नित्योदयम्) हमेशा उदय रहनेवाला (दलित-

मोहमहान्धकारम्) मोहरूपी अन्धकारको नष्ट करनेवाला (राहुवदनस्य न गम्यम्) राहुके मुखके द्वारा ग्रसे जानेके अयोग्य (वारिदानां न गम्यम्) मेघोंके द्वारा छिपानेके अयोग्य (अनल्पकान्ति) अधिक कान्तिवाला और (जगत्) संसारको (विद्योतयत्) प्रकाशित करनेवाला (तव) आपका (मुखाब्जम्) मुखकमलरूपी (अपूर्वशशाङ्क-बिम्बम्) अपूर्व चन्द्रमण्डल (विभ्राजते) शोभित होता है ।

भावार्थ-हे भगवन् ! आपका मुखकमल अपूर्व चन्द्रमा है क्योंकि यह चन्द्रमा दिनमें अस्त होजाता है पर आपका मुखचन्द्र हमेशा उदित रहता है । चन्द्रमा सिर्फ अन्धकारको नष्ट करता है पर आपका मुखचन्द्र मोहरूपी अन्धकारको भी नष्ट कर देता है । चन्द्रमा राहुके द्वारा ग्रसा जाता है पर आपके मुखचन्द्रको राहु नहीं ग्रस सक्ता । चन्द्रमाको बादल छिपा लेते हैं पर आपके मुखचन्द्रको बादल नहीं छिपा सक्ते । चन्द्रमाकी कान्ति कृष्ण पक्षमें घट जाती है पर आपके मुखचन्द्रकी कान्ति हमेशा बढ़ती ही रहती है और चन्द्रमा सिर्फ मध्यलोकको प्रकाशित करता है पर आपका मुखचन्द्र तीनो लोकोंको प्रकाशित करता है ॥ १८ ॥

किं शर्वरीषु शशिनाह्नि विवस्वता वा
युष्मन्मुखेन्दु दलितेषु तमःसु नाथ ।
निष्पन्नशालिवनशालिनि जीवलोके
कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ-(नाथ !) हे स्वामिन् ! (तमःसु युष्मन्मुखेन्दु-दलितेषु 'सत्सु') अन्धकारके, आपके मुखचन्द्रमाके द्वारा नष्ट हो जानेपर (शर्वरीषु) रातमें (शशिना) चन्द्रमासे (वा) अथवा (अह्नि) दिनमें (विवस्वता) सूर्यसे (किम्) क्या प्रयोजन है ?

(निष्पन्नशालिवनशालिनि) पैदा हुई धान्यके वनोंसे शोभायमान (जीवलोके) संसारमें (जलभारनम्रैः) पानीके भारसे झुके हुए (जलधरैः) मेघोंसे (कियत्) कितना (कार्यम्) काम रह जाता है ।

भावार्थ–हे प्रभो ! जिस तरह संसारमें धान्यके पकजानेपर वादलोंसे कोई लाभ नहीं होता उसी तरह आपके मुखचंद्रके द्वारा अन्धकार नष्ट होजानेपर दिनमें सूर्यसे और रातमें चन्द्रमासे कोई लाभ नहीं है ॥ २० ॥

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु ।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥ २० ॥

अन्वयार्थ–(कृतावकाशम्) अवकाशको प्राप्त (ज्ञानम्) ज्ञान (यथा) जिस तरह (त्वयि) आपमें (विभाति) शोभायमान होता है (एवं तथा) उस तरह (हरिहरादिषु) विष्णु शङ्कर आदि (नायकेषु) देवोंमें (न 'विभाति') शोभायमान नहीं होता (तेजः) तेज (स्फुरन्मणिषु) चमकते हुए मणियोंमें (यथा) जैसे (महत्त्वम्) महत्वको (याति) प्राप्त होता है (तु) निश्चयसे (एवं 'तथा') वैसे महत्त्वको (किरणाकुले अपि) किरणोंसे व्याप्त भी (काचशकले) कांचके टुकड़ेमें (न 'याति') नहीं प्राप्त होता ।

भावार्थ–हे विभो ! लोक अलोकको जाननेवाला निर्मल ज्ञान जिस तरह आपमें शोभाको प्राप्त होता है उस तरह ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि देवोंमें नहीं होता। तेजकी शोभा महामणिमें ही होती है न कि कांचके टुकड़ेमें भी ॥ २० ॥

मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा

दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति ।

किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः

कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तरेऽपि ॥२१॥

अन्वयार्थ–(नाथ !) हे स्वामिन् ! (मन्ये) मैं मानता हूं कि (दृष्टाः) देखेगये (हरिहरादयः एव) विष्णु, महादेव आदि देव ही (वरम्) अच्छे हैं (येषु दृष्टेषु सत्सु) जिनके देखे जानेपर (हृदयम्) मन (त्वयि) आपके विषयमें (तोषम्) सन्तोषको (एति) प्राप्त होजाता है (वीक्षितेन) देखे गये (भवता) आपसे (किम्) क्या लाभ है ? (येन) जिससे कि (भुवि) पृथिवीपर (अन्यः कश्चित्) कोई दूसरा देव (भवान्तरे अपि) जन्मान्तरमें भी (मनः) चित्तको (न हरति) नहीं हर पाता ।

भावार्थ–इस श्लोकमें व्याजोक्ति अलंकारसे विपरीत कथन किया गया है। श्लोकका अविरुद्ध अर्थ यह है कि हे प्रभो ! संसारमें आप ही सर्वश्रेष्ठ देव हैं । आपके दर्शनसे चित्तको इतना सन्तोष होता है कि वह मरनेके बाद भी किसी दूसरे देवके दर्शन नहीं करना चाहता । हरि हर आदि देव रागी द्वेषी हैं उनके दर्शनसे चित्त सन्तुष्ट नहीं होता । इसीलिये वह इसके देवोंके दर्शनोंकी इच्छा रखता है ॥२१

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रा-

न्नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता ।

सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं

प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥२२॥

अन्वयार्थ–(स्त्रीणाम् शतानि) स्त्रियोंके शतक–सैकड़ों स्त्रियां

(शतशः) सैकड़ों (पुत्रान्) पुत्रोंको (जनयन्ति) पैदा करती हैं, परन्तु (त्वदुपमम्) आप जैसे (सुतम्) पुत्रको (अन्या) दूसरी (जननी) मां (न प्रसूता) पैदा नहीं कर सकी (भानि) नक्षत्रोंको (सर्वाः दिशः) सब दिशाएं (दधति) धारण करती हैं, परन्तु (स्फुरदंशुजालम्) चमक रहा है किरणोंका समूह जिसका ऐसे (सहस्ररश्मिम्) सूर्यको (प्राची दिक एव) पूर्वदिशा ही (जनयति) प्रगट करती है ।

भावार्थ-हे नाथ ! जिस तरह सूर्यको पूर्वदिशाके सिवाय अन्य दिशाएँ प्रगट नहीं कर पातीं, उसी तरह आपको आपकी माताके सिवाय अन्य माता पैदा नहीं कर सकीं । आप भाग्यशालिनी माताके अद्वितीय भाग्यशाली पुत्र हैं ॥ २२ ॥

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस-
मादित्यवर्णममलं तमसः परस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनींद्रपंथाः ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ-(मुनीन्द्र!) हे मुनियोंके नाथ! (मुनयः) तपस्वीजन! (त्वाम्) आपको (आदित्यवर्णम्) सूर्यकी तरह तेजस्वी (अमलम्) निर्मल और (तमसः परस्तात्) मोह-अन्धकारसे परे रहनेवाले (परमं पुंमासम्) परम पुरुष (आमनन्ति) मानते हैं। वे (त्वाम् एव) आपको ही (सम्यक्) अच्छी तरहसे (उपलभ्य) प्राप्त कर (मृत्युम्) मृत्युको (जयन्ति) जीतते हैं । 'इसके सिवाय' (शिवपदस्य) मोक्षपदका (अन्यः) दूसरा (शिवः) अच्छा (पन्थाः) रास्ता (न 'अस्ति') नहीं है ।

भावार्थ-सांख्य मतवाले कमलपत्रकी तरह निर्लेप, शुद्ध, ज्ञान-

रूप पुरुषको मानते हैं और अन्तमें प्रकृतिजन्य विकारोंको छोड़कर पुरुषकी प्राप्तिको मोक्ष मानते हैं। आचार्य मानतुंगने अपनी व्यापक दृष्टिसे भगवानके लिये ही परम पुरुष बतलाया है और साथमें यह भी कहा है कि आपको अच्छी तरह प्राप्तकर—जानकर ही मोक्ष प्राप्त किया जासकता है। जो आपसे दूर रहते हैं उन्हें मोक्ष प्राप्त नहीं होसकता ॥ २३ ॥

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसङ्ख्यमाद्यं
ब्रह्माणमीश्वरमनंतमनंगकेतुम्।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—(सन्तः) सज्जन पुरुष (त्वाम्) आपको (अव्ययम्) अव्यय (विभुम्) विभु (अचिन्त्यम्) अचिन्त्य (असंख्यम्) असंख्य (आद्यम्) आद्य (ब्रह्माणम्) ब्रह्मा (ईश्वरम्) ईश्वर (अनन्तम्) अनन्त (अनंगकेतुम्) अनंगकेतु (योगीश्वरम्) योगीश्वर (विदित-योगम्) विदित योग (अनेकम्) अनेक (एकम्) एक (ज्ञानस्व-रूपम्) ज्ञानस्वरूप और (अमलम्) अमल (प्रवदन्ति) कहते हैं।

भावार्थ—भगवन्! आपकी आत्माका कभी नाश नहीं होता इसलिये सत्पुरुप आपको 'अव्यय' अविनाशी कहते हैं। आपका ज्ञान तीनों लोकोंमें फैला हुआ है इसलिये आपको 'विभु'—व्यापक कहते हैं। आपके स्वरूपका कोई चिन्तवन नहीं कर सकता, इस लिये आपको 'अचिन्त्य'—चिन्तवनके अयोग्य कहते हैं। आपके गुणोंकी संख्या नहीं है इसलिये आपको 'असंख्य'—गणना रहित कहते हैं। आप युगके आदिमें हुए अथवा चौवीस तीर्थंकरोंमें आदि हैं, इसलिये आपको 'आद्य'—प्रथम कहते हैं। आप सब

कर्मोंसे रहित हैं अथवा अनन्त गुणोंसे बढ़े हुए हैं इसलिये आपको 'ब्रह्मा' कहते हैं। आप कृतकृत्य हैं इसलिये आपको 'ईश्वर' कहते हैं। आप सामान्य स्वरूपकी अपेक्षा अन्तरहित हैं इसलिये आपको 'अनन्त' कहते हैं। आप कामको नष्ट करनेके लिये केतुग्रहकी तरह हैं इसलिये आपको 'अनङ्गकेतु' कहते हैं। आप योगियों–मुनियोंके स्वामी हैं इसलिये आपको 'योगीश्वर' कहते हैं। आप योग–ध्यान वगैरहको जाननेवाले हैं इसलिये आपको 'विदितयोग' कहते हैं। आप पर्यायोंकी अपेक्षा अनेकरूप हैं इसलिये आपको 'अनेक' कहते हैं। आप सामान्य स्वरूपकी अपेक्षा एक हैं इसलिये आपको 'एक' कहते हैं। आप केवलज्ञानरूप हैं इसलिये आपको 'ज्ञान-स्वरूप' कहते हैं तथा आप कर्ममलसे रहित हैं इसलिये आपको 'अमल' कहते हैं ॥ २४ ॥

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधा-
त्त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात् ।
धातासि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधाना-
द्व्यक्तं त्वमेव भगवन्पुरुषोत्तमोऽसि ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ–(विबुधार्चितबुद्धिबोधात्) देव अथवा विद्वानोंके द्वारा पूजित बुद्धि–ज्ञानवाले होनेसे (त्वम् एव) आप ही (बुद्धः) बुद्ध हैं। (भुवनत्रयशङ्करत्वात्) तीनों लोकोंमें शांति करनेके कारण (त्वम् एव) आप ही (शङ्करः असि) शङ्कर हैं। (धीर) हे धीर ! (शिवमार्गविधेः) मोक्षमार्गकी विधिके (विधानात्) करनेसे (त्वम् एव) आप ही (धाता) ब्रह्मा हैं और (भगवन्) हे स्वामिन् (त्वम् एव) आप ही (व्यक्तम्) स्पष्ट रूपसे (पुरुषोत्तमः असि) मनुष्योंमें उत्तम अथवा नारायण हैं।

भावार्थ—संसारमें बुद्ध, शङ्कर, ब्रह्मा और नारायण नामसे प्रसिद्ध अन्य देव हैं। आचार्य कहते हैं कि हे भगवन्! केवलज्ञान-सहित होनेके कारण आप ही सच्चे बुद्ध हैं। किंतु जो सर्वथा क्षणिक-वादी अथवा केवलज्ञानसे रहित हैं वह बुद्ध बुद्ध नहीं कहला सकता। तीनों लोकोंके सुख या शांतिके करनेसे आप ही सच्चे 'शङ्कर' हैं। जो संसारका संहार करनेवाला है और कामसे पीडित होकर पार्व-तीको हमेशा साथ रखता है वह शंकर शंकर नहीं होसकता। आपने ही रत्नत्रय रूप धर्मका उपदेश देकर मोक्षमार्गकी सृष्टि की है। इस-लिये आप ही सच्चे ब्रह्मा हैं। जो हिंसक वेदोंका उपदेश देता था और तिलोत्तमाके मोहमें फंस तपसे भ्रष्ट हुआ था वह ब्रह्मा ब्रह्मा नहीं कहा जा सकता। इसीतरह पुरुषोत्तम—कृष्णनारायण भी तुम्हीं हो, क्योंकि आप सब पुरुषोंमें उत्तम—श्रेष्ठ हो ॥ २५ ॥

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ !
तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय
तुभ्यं नमो जिन ! भवोदधिशोषणाय ॥२६॥

अन्वयार्थ—(नाथ !) हे स्वामिन्! (त्रिभुवनार्तिहराय) तीनों लोकोंके दुःखोंके हरनेवाले (तुभ्यम्) आपके लिये (नमः 'अस्तु') नमस्कार हो, (क्षितितलामलभूपणाय) पृथिवीतलके निर्मल आभूपण-स्वरूप (तुभ्यम्) आपके लिये (नमः 'अस्तु') नमस्कार हो, (त्रिजगतः) तीनों जगत्के (परमेश्वराय) परमेश्वर स्वरूप (तुभ्यम्) आपके लिये (नमः 'अस्तु') नमस्कार हो और (जिन !) हे जिनेन्द्रदेव ! (भवोदधिशोपणाय) संसार—समुद्रके सुखानेवाले (तुभ्यम्) आपके लिये (नमः 'अस्तु') नमस्कार हो।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप तीनों लोकोंकी विपत्ति हरनेवाले हो, महीतलके निर्मल आभूषण हो, त्रिभुवनके स्वामी हो और संसार-समुद्रके शोषक हो, इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ २६ ॥

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै-
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश !
दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥२७॥

अन्वयार्थ—(मुनीश !) हे मुनियोंके स्वामी ! (यदि नाम) यदि (निरवकाशतया) अन्य जगह स्थान न मिलनेके कारण (त्वम्) आप (अशेषैः) समस्त (गुणैः) गुणोंके द्वारा (संश्रितः) आश्रित हुए हो और (उपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः) प्राप्त हुए अनेक आधारसे उत्पन्न हुआ है अहंकार जिनको ऐसे (दोषैः) दोषोंके द्वारा (स्वप्नान्तरे अपि) स्वप्नके मध्यमें भी (कदाचित् अपि) कभी भी (न ईक्षितः असि) नहीं देखे गये हो [तर्हि] तो (अत्र) इस विषयमें (कः विस्मयः) क्या आचार्य है ? कुछ नहीं ।

भावार्थ—गुणोंको संसारमें अन्य स्थान नहीं मिला इसलिये वे लाचार हो आपकी शरणमें आगये । परन्तु दोषोंको अन्य स्थानकी कमी नहीं थी, इसलिये वे स्वप्नमें भी आपके पास नहीं आये । व्यवहारमें भी देखा जाता है कि जिसकी अन्यत्र इज्जत नहीं होती वह लाचार हो किसी एकके पास ही रहता है, पर जिसकी हरजगह इज्जत होती है वह किसी एकके आश्रित नहीं रहता । श्लोकका तात्पर्य इतना ही है कि आप गुणवान हैं, आपमें दोष बिलकुल ही नहीं हैं ।

उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख-
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम् ।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानं
बिम्बं रवेरिव पयोधरपार्श्ववर्ति ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ-(उच्चैरशोकतरुसंश्रितम्) ऊंचे अशोक वृक्षके नीचे स्थित तथा (उन्मयूखम्) जिसकी किरणें ऊपरको फैल रही हैं ऐसा (भवतः) आपका (अमलम्) उज्ज्वल (रूपम्) रूप (स्पष्टोल्लसत्किरणम्) स्पष्ट रूपसे शोभायमान हैं किरणें जिसकी और (अस्ततमोवितानम्) नष्ट कर दिया है अन्धकारका समूह जिसने ऐसे (पयोधरपार्श्ववर्ति) मेघके पासमें वर्तमान (रवेः बिम्बम् इव) सूर्यके बिंबकी तरह (नितान्तम्) अत्यन्त (आभाति) शोभित होता है ।

भावार्थ-हे प्रभो ! ऊँचे और हरे भरे अशोक वृक्षके नीचे आपका सुवर्णसा उज्ज्वल रूप उस भांति भला मालूम होता है जिसभांति काले काले मेघके नीचे सूर्यका मण्डल । यह अशोक प्रातिहार्यका वर्णन है ॥ २८ ॥

सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम् ।
बिम्बं वियद्विलसदंशुलतावितानं
तुङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मेः ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ-(मणिमयूखशिखाविचित्रे) रत्नोंकी किरणोंके अग्रभागसे चित्र विचित्र (सिंहासने) सिंहासनपर (तव) आपका (कनकावदातम्) सुवर्णकी तरह उज्ज्वल (वपुः) शरीर, (तुङ्गोदयाद्रिशिरसि) ऊँचे उदयाचलकी शिखरपर (वियद्विलसदंशुलतावितानम्) आकाशमें शोभायमान है किरणरूपी लताओंका समूह जिसका ऐसे

(सहस्ररश्मेः) सूर्यके (विम्बम् इव) मण्डलकी तरह (विभ्राजते) शोभायमान होरहा है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! उदयाचलकी चोटीपर सूर्यका विम्ब जैसा भला मालूम होता है वैसा ही रत्नोंके सिंहासनपर आपका मनोहर शरीर भला मालूम होता है। यह सिंहासन प्रातिहार्यका वर्णन है ॥२९॥

कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं
विभ्राजते तव वपुः कलधौतकांतम् ।
उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधार-
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥ ३० ॥

अन्वयार्थ-(कुन्दावदातचलचामरचारुशोभम्) कुन्दके फूलके समान स्वच्छ चँवरोंके द्वारा सुन्दर है शोभा जिसकी ऐसा (तव) आपका (कलधौतकान्तम्) सुवर्णके समान सुन्दर (वपुः) शरीर (उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधारम्) जिसपर चन्द्रमाके समान शुक्ल झरनेके जलकी धारा बह रही है ऐसे (सुरगिरेः) मेरु पर्वतके (शातकौम्भम्) सोनेके बने हुए (उच्चैस्तटम् इव) ऊँचे तटकी तरह (विभ्राजते) शोभायमान होता है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! जिसपर देवोंके द्वारा सफेद चँवर ढोले जा रहे हैं ऐसा आपका सुवर्णमय शरीर उतना सुहावना मालूम होता है जितना कि झरनेके सफेद जलसे शोभित मेरुपर्वतका सोनेका शिखर। यह चँवर प्रातिहार्यका वर्णन है ॥ ३० ॥

छत्रत्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त-
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम् ।
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभं
प्रख्यापयत्त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ-(शशाङ्ककान्तम्) चन्द्रमाके समान सुन्दर (स्थगित-भानुकरप्रतापम्) सूर्यकी किरणोंके सन्तापको रोकनेवाले तथा (मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभम) मोतियोंके समूहसे बढ़ती हुई शोभाको धारण करनेवाले (तव उच्चैः स्थितम्) आपके ऊपर स्थित (छत्रत्रयम्) तीन छत्र (त्रिजगतः) तीन जगतके (परमेश्वरत्वम्) स्वामित्वको (प्रख्यापयत् 'इव') प्रकट करते हुएकी तरह (विभाति) शोभायमान होते हैं।

भावार्थ-भगवान् ! आपके शिरपर जो तीन छत्र फिररहे हैं वे मानों यह प्रकट कर रहे हैं कि आप तीन लोकके स्वामी हैं। यह छत्रत्रय प्रतिहार्यका वर्णन है ॥ ३१ ॥

गम्भीरताररवपूरितदिग्विभाग-
त्रैलोक्यलोकशुभसंगमभूतिदक्षः ।
सद्धर्मराजजयघोपणघोपकः सन्
खे दुंदुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ-(गम्भीरताररवपूरितदिग्विभागः) गम्भीर और उच्च शब्दसे दिशाओंके विभागको पूर्ण करनेवाला (त्रैलोक्यलोक-शुभसंगमभूतिदक्षः) तीन लोकके जीवोंको शुभ सम्पत्ति प्राप्त करानेमें समर्थ और (सद्धर्मराजजयघोपणघोपकः) समीचीन जैनधर्मके स्वामीकी जयघोपणा करनेवाला (दुन्दुभिः) दुन्दुभिवाजा (ते) आपके (यशसः) यशका (प्रवादी सन्) कथन करता हुआ (खे) आकाशमें (ध्वनति) शब्द करता है ।

भावार्थ-हे प्रभो ! आकाशमें जो दुन्दुभि वाजा वज रहा है वह मानों आपकी जय बोलता हुआ आपका सुयश प्रगट कररहा है । यह दुन्दुभि प्रातिहार्यका वर्णन है ॥ ३२ ॥

मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजात-
सन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिरुद्धा ।
गंधोदबिंदुशुभमन्दमरुत्प्रपाता
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा ॥३३॥

अन्वयार्थ-(गन्धोदविन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता) सुगन्धित जलकी बूंदों और उत्तम मन्द हवाके साथ है प्रपात-गिरना जिसका ऐसी (उद्धा) श्रेष्ठ और (दिव्या) मनोहर (मन्दारसुन्दरनमेरु-सुपारिजातसन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिः) मन्दार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात, सन्तानक आदि कल्पवृक्षोंके फूलोंके समूहकी वर्षा (ते) आपके (वचसाम्) वचनोंकी (ततिः वा) पंक्तिकी तरह (दिवः) आकाशसे (पतति) पड़ती है ।

भावार्थ-हे नाथ ! सुगन्धित जल और मन्द हवाके साथ आकाशसे जो कल्पवृक्षके फूलोंकी वर्षा होती है वह आपके मनोहर वचनावलीकी तरह शोभित होती है। यह पुष्पवृष्टि प्रातिहार्यका वर्णन है ॥ ३३ ॥

शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा विभोस्ते
लोकत्रयद्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती ।
प्रोद्यद्दिवाकरनिरंतरभूरिसंख्या-
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्यां ॥३४॥

अन्वयार्थ-(लोकत्रयद्युतिमताम्) तीनों लोकोंके कांतिमान् पदार्थोंकी (द्युतिम्) कांतिको (आक्षिपन्ती) तिरस्कृत करती हुई (ते विभोः) आपके (शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा) मनोहर भामण्डलकी विशाल कांति (प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्यादीप्त्या) उगते हुए अन्तर रहित अनेक सूर्यों जैसी कांतिसे ('उपलक्षिता' अपि)

होकर भी (सोमसौम्याम्) चन्द्रमासे सुन्दर (निशाम् अपि) रात्रिको भी (जयति) जीत रही है ।

भावार्थ-हे प्रभो ! यद्यपि आपकी प्रभा सूर्यसे भी अधिक तेजस्विनी है तथापि वह सन्ताप देनेवाली नहीं है। चन्द्रप्रभाकी तरह शीतल भी है । यह भामण्डल प्रातिहार्यका वर्णन है ॥ ३४ ॥

स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः
सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुस्त्रिलोक्याः ।
दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्व-
भाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ-(ते) आपकी (दिव्यध्वनिः) दिव्यध्वनि (स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः) स्वर्ग और मोक्षको जानेवाले मार्गके खोजनेके लिये इष्ट (त्रिलोक्याः) तीन लोकके जीवोंको (सद्धर्मतत्व-कथनैकपटुः) समीचीन धर्मतत्वके कथन करनेमें अत्यन्त समर्थ और (विशदार्थसर्वभाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः) स्पष्ट अर्थवाली सम्पूर्ण भाषाओंमें परिवर्तित होनेवाले स्वाभाविक गुणसे सहित (भवति) होती है ।

भावार्थ-हे स्वामिन् ! आपकी वाणी स्वर्ग और मोक्षका रास्ता बतानेवाली है, सब जीवोंको हितका उपदेश देनेमें समर्थ है और सब भाषाओंमें बदल जाती है अर्थात् जो जिस भाषाका जानकार है आपकी दिव्यध्वनि उसके कानोंके पास पहुँचकर उसी रूप होजाती है । यह दिव्यध्वनि प्रातिहार्यका वर्णन है ॥ ३५ ॥

उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ती
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्तः
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थ-(जिनेन्द्र !) हे जिनेन्द्रदेव (उन्निद्रहेमनवपङ्कज पुञ्जकान्ती) फूले हुए सुवर्णके नवीन कमल समूहके समान है कान्ति जिनकी ऐसे तथा (पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ) सब ओरसे शोभायमान नखोंकी किरणोंके अग्र भागसे सुन्दर (तव) आपके (पादौ) चरण (यत्र) जहां (पदानि) कदम (धत्तः) रखते हैं (तत्र) वहां (विबुधाः) देव (पद्मानि) कमल (परिकल्पयन्ति) रच देते हैं ।

भावार्थ-हे जिनेन्द्र ! जब आप धर्मोपदेश देनेके लिये आर्य क्षेत्रोंमें विहार करते हैं तब देव लोग आपके चरणोंके नीचे कमलोंकी रचना करते जाते हैं ॥ ३६ ॥

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र !
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य ।
यादृक्प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा
तादृक्कुतो ग्रहगणस्य विकाशिनोऽपि ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थ-(जिनेन्द्र !) हे जिनदेव ! (इत्थं) इस प्रकार (धर्मोपदेशनविधौ) धर्मोपदेशके कार्यमें (यथा) जैसी (तव) आपकी (विभूतिः) विभूति (अभूत्) हुई थी (तथा) वैसी (परस्य) किसी दूसरेकी (न 'अभूत्') नहीं हुई थी । (प्रहतान्धकारा) अन्धकारको नष्ट करनेवाली (यादृक्) जैसी (प्रभा) कान्ति (दिनकृतः) सूर्यकी ('भवति') होती है (तादृक्) वैसी (विकाशिनः अपि) प्रकाशमान भी (ग्रहगणस्य) अन्य ग्रहोंकी (कुतः) कहांसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती ।

भावार्थ-हे प्रभो ! धर्मोपदेशके विषयमें समवसरणादिरूप जैसी विभूति आपको प्राप्त हुई थी वैसी विभूति अन्य देवताओंको

प्राप्त नहीं हुई थी। सो ठीक ही है, क्या कभी सूर्य जैसी कान्ति आदि शुक्र ग्रहोंसे भी प्राप्त होसकती ? है अर्थात् नहीं होसकती है ॥३७॥

श्चोतन्मदाविलविलोलकपोलमूल-
मत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम्।
ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्तं,
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ-(भवदाश्रितानाम्) आपके आश्रित मनुष्योंको (श्चोतन्मदाविलविलोलकपोलमूलमत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम्) झरते हुए मद-जलसे मलिन और चञ्चल गालोंके मूल भागमें पागल हो घूमते हुए भौंरोंके शब्दसे बढ़ गया है क्रोध जिसका ऐसे (ऐरावताभम्) ऐरावतकी तरह (उद्धतम्) उद्दण्ड (आपतन्तम्) सामने आते हुए (इभम्) हाथीको (दृष्ट्वा) देख कर (भयम्) डर (नो भवति) नहीं होता।

भावार्थ-हे प्रभो ! जो मनुष्य आपकी शरण लेते हैं उन्हें मदोन्मत्त हाथी भी नहीं डरा सकता ॥ ३८ ॥

भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्त-
मुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभागः।
बद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि
नाक्रामति क्रमयुगाचलसंश्रितं ते ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ-(भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्तमुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभागः) विदारे हुए हाथीके गण्डस्थलसे गिरते हुए उज्ज्वल तथा खूनसे भीगे हुए मोतियोंके समूहके द्वारा भूषित किया है पृथिवीका भाग जिसने ऐसा तथा (बद्धक्रमः) छलांग मारनेके

लिये तैयार (हरिणाधिपः अपि) सिंह भी (क्रमगतम्) अपने पांवोंके बीच आये हुए (ते) आपके (क्रमयुगाचलसंश्रितम्) चरण युगलरूप पर्वतका आश्रय लेनेवाले पुरुषपर (न आक्रामति) आक्रमण नहीं करता ।

भावार्थ–हे प्रभो! जो आपके चरणोंकी शरण लेता है सिंह भी उनकी शिकार नहीं कर पाता ॥ ३९ ॥

कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पं
　　दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिङ्गम् ।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं
　　त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम् ॥ ४० ॥

अन्वयार्थ–(त्वन्नामकीर्तनजलम्) आपके नामका यशोगान रूपी जल, (कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पम्) प्रलयकालकी वायुकी प्रचण्ड अग्निके तुल्य (ज्वलितम्) प्रज्वलित (उज्ज्वलम्) उज्ज्वल और (उत्स्फुलिङ्गम्) जिससे तिलगे निकल रहे हैं ऐसी तथा (विश्वं जिघत्सुम् इव) संसारको भक्षण करनेकी इच्छा रखनेवालेकी तरह (सम्मुखम्) सामने (आपतन्तम्) आती हुई (दावानलम्) वनकी अग्निको (अशेषम् 'यथास्यात् तथा') सम्पूर्ण रूपसे (शमयति) बुझा देता है ।

भावार्थ–हे भगवन्! आपके नामका स्मरण करनेसे भयंकर दावानल-दुँवारकी बाधा नष्ट होजाती है ॥ ४० ॥

रक्तेक्षणं समदकोकिलकण्ठनीलं
　　क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम् ।
आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशङ्क–
　　स्त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः ॥४१॥

अन्वयार्थ-(यस्य) जिस (पुंसः) पुरुषके (हृदि) हृदयमें (त्वन्नामनागदमनी) आपके नामरूपी नागदमनी-नागदौन औषधि [अस्ति] मौजूद है [सः] वह पुरुष (रक्तेक्षणम्) लाल लाल आँखोंवाले (समदकोकिलकण्ठनीलम्) मदयुक्त कोयलके कण्ठकी तरह काले (क्रोधोद्धतम्) क्रोधसे उद्दण्ड और (उत्फणम्) ऊपरको फन उठाये हुए (आपतन्तम्) सामने आनेवाले (फणिनम्) सांपको (निरस्तशङ्कः 'सन्') शङ्कारहित होता हुआ (क्रमयुगेन) दोनों पाँवोंसे (आक्रामति) लाँघ जाता है ।

भावार्थ-हे प्रभो ! जो आपके नामका स्मरण करता है, भयङ्कर सांप भी उसका कुछ नहीं विगाड़ सक्ता ॥ ४१ ॥

वल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनाद-
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम् ।
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं ।
त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ-(त्वत्कीर्तनात्) आपके यशोगानसे (आजौ) युद्धक्षेत्रमें (वल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनादम्) उछलते हुए घोड़े और हाथियोंकी गर्जनासे भयङ्कर है शब्द जिसमें ऐसी (बलवताम्) पराक्रमी (भूपतीनाम् अपि) राजाओंकी भी (बलम्) सेना (उद्य-द्दिवाकरमयूखशिखापविद्धम्) उगते हुए सूर्यकी किरणोंके अग्र-भागसे वेधे गये (तमः इव) अन्धकारकी तरह (आशु) शीघ्र ही (भिदाम्) विनाशको (उपैति) प्राप्त होजाती है ।

भावार्थ-हे नाथ ! जिसतरह सूर्यकी किरणोंसे अंन्धकार नष्ट होजाता है उसीतरह आपका यशोगान करनेसे वड़े बड़े राजाओंकी सेनाएं भी युद्धमें नष्ट होजाती हैं-हार जाती हैं ॥ ४२ ॥

कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाह-
वेगावतारतरणातुरयोधभीमे
युद्धे जयं विजितदुर्जयजेयपक्षा-
स्त्वत्पादपंकजवनाश्रयिणो लभन्ते ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ-(त्वत्पादपंकजवनाश्रयिणः) आपके चरणरूप कमलोंके वनका आश्रय लेनेवाले पुरुष (कुन्ताग्रभिन्नगजशोणित-वारिवाहवेगावतारतरणातुरयोधभीमे) भालोंके अग्रभागसे विदारे-गये हाथियोंके खूनरूपी जलके प्रवाहको वेगसे उतरने और तैरनेमें व्यग्र योद्धाओंके द्वारा भयंकर (युद्धे) युद्धमें (विजितदुर्जयजेय-पक्षाः 'सन्तः') जीत लिया है मुश्किलसे जीतने योग्य शत्रुओंके पक्षको जिन्होंने ऐसे होते हुए (जयम्) विजय (लभन्ते) पाते हैं।

भावार्थ-हे भगवन् ! जो आपके चरणोंका सहारा लेते हैं वे भयङ्करसे भयङ्कर भी युद्धमें निश्चित विजय पाते हैं ॥ ४३ ॥

अम्भोनिधौ क्षुभितभीषणनक्रचक्र-
पाठीनपीठभयदोल्वणवाडवाग्नौ ॥
रङ्गत्तरङ्गशिखरस्थितयानपात्रा-
स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद्व्रजन्ति ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ-(क्षुभितभीषणनक्रचक्रपाठीनपीठभयदोल्वणवाड-वाग्नौ) क्षोभको प्राप्त हुए भयङ्कर नाकुओंके समूह और मछलियोंके द्वारा भय पैदा करनेवाले तथा विकराल है वडवानल जिसमें ऐसे (अम्भोनिधौ) समुद्रमें (रंगत्तरंगशिखरस्थितयानपात्राः) चञ्चल लहरोंके अग्र भागपर स्थित है जहाज जिनका ऐसे मनुष्य (भवतः) आपके (स्मरणात्) स्मरणसे (त्रासम्) डर (विहाय) छोड़कर (व्रजन्ति) गमन करते हैं—यात्रा करते हैं ।

भावार्थ-हे भगवन् ! जो आपका स्मरण करते हैं वे तूफानके समय भी समुद्रमें निडर होकर यात्रा करते हैं ॥ ४४ ॥

उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्नाः
शोच्यां दशामुपगताश्च्युतजीविताशाः ।
त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृतदिग्धदेहा
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थ-(उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्नाः) उत्पन्न हुए भयंकर जलोदर-रोगके भारसे झुके हुए (शोच्याम् दशाम्) शोचनीय अवस्थाको (उपगताः) प्राप्त और (च्युतजीविताशाः) छोड़ दी है जीवनकी इच्छा जिन्होंने ऐसे (मर्त्याः) मनुष्य (त्वत्पादपंकजरजोऽमृतदिग्धदेहाः 'सन्तः') आपके चरणकमलोंकी धूलिरूप अमृतसे लिप्त शरीर होते हुए (मकरध्वजतुल्यरूपाः) कामदेवके समान रूपवाले (भवन्ति) होजाते हैं ।

भावार्थ-हे नाथ ! जो आपके चरणोंका ध्यान करता है उसका भयङ्कर जलोदररोग दूर होजाता है ॥ ४५ ॥

आपादकण्ठमुरुशृङ्खलवेष्टिताङ्गा
गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्घाः ।
त्वन्नाममंत्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः ॥ ४६ ॥
सद्यः स्वयं विगतबंधभया भवन्ति ।

अन्वयार्थ-(आपादकण्ठम्) पांवसे लेकर कण्ठपर्यन्त (उरुशृङ्खलवेष्टिताङ्गाः) बड़ी बड़ी सांकलोंसे जकड़ा हुआ है शरीर जिनका ऐसे और (गाढं 'यथा स्यात्तथा') अत्यन्त रूपसे (बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्घाः) बड़ी बड़ी बेड़ियोंके अग्रभागसे घिस गई हैं जांघे

जिनकी ऐसे (मनुजाः) मनुष्य (अनिशम्) निरन्तर (त्वन्नाममन्त्रम्) आपके नामरूपी मन्त्रको (स्मरन्तः) स्मरण करते हुए (सद्यः) शीघ्र ही (स्वयम्) अपने आप, (विगतवन्धभयाः) बंधनके भयसे रहित (भवन्ति) होजाते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन्! जो निरन्तर आपके नामकी जाप करते हैं उनके वेड़ी आदि वन्धन अपने आप टूट जाते हैं ॥ ४६ ॥

मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहि-
संग्रामवारिधिमहोदरवन्धनोत्थम् ।
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (मतिमान्) बुद्धिमान् मनुष्य (तावकम्) आपके (इमम्) इस (स्तवम्) स्तोत्रको (अधीते) पढ़ता है (तस्य) उसका (मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहिसंग्रामवारिधिमहोदरवन्धनोत्थम्) मत्त हाथी, सिंह, वनाग्नि, सांप, युद्ध, समुद्र, जलोदर और वन्धन आदिसे उत्पन्न हुआ (भयम्) डर (भिया इव) मानों भयसे ही (आशु) शीघ्र (नाशम्) विनाशको (उपयाति) प्राप्त होजाता है ।

भावार्थ—हे प्रभो! आपका स्तवन करनेसे सब तरहके भय नष्ट होजाते हैं । ॥ ४७ ॥

स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्र गुणैर्निबद्धां
भक्त्या मया रुचिरवर्णविचित्रपुष्पाम् ।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं
तं मानतुङ्गमवशा समुपैति लक्ष्मीः ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ-(जिनेन्द्र!) हे जिनेन्द्रदेव ! (इह) इस संसारमें (यः जनः) जो मनुष्य (मया) मेरे द्वारा (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (गुणैः) प्रसाद माधुर्य-ओज आदि गुणोंसे [मालाके पक्षमें—डोरेसे] (निबद्धाम्) रची गई [माला पक्षमें—गूँथी गई] (रुचिरवर्णविचित्र-पुष्पाम्) मनोहर अक्षर ही हैं विचित्र फूल जिसमें ऐसी [मालापक्षमें-अच्छे रंगवाले कई तरहके फूलोंसे सहित] (तव) आपकी (स्तोत्र-स्रजम्) स्तुतिरूप मालाको (अजस्रम्) हमेशा (कण्ठगताम् धत्ते) याद करता है [मालापक्षमें—गलेमें पहिनता है] (तम्) उस (मान-तुंगम्) सन्मानसे उन्नत पुरुष [अथवा स्तोत्रके रचनेवाले मानतुंग आचार्य] को (लक्ष्मीः) स्वर्गमोक्षादिकी विभूति (अवशा 'सती') स्वतन्त्र होती हुई (समुपैति) प्राप्त होती है।

भावार्थ-हे नाथ ! जो मनुष्य निरन्तर आपके इस स्तोत्रका पाठ करता है उसे हरएक तरहकी लक्ष्मी प्राप्त होती है।

[२]

श्रीकुमुदचन्द्राचार्यविरचित-

कल्याणमंदिर स्तोत्र ।

(वसन्ततिलका छन्द)

कल्याणमन्दिरमुदारमवद्यभेदि
भीताभयप्रदमनिन्दितमङ्घ्रिपद्मम् ।
संसारसागरनिमज्जदशेषजंतु-
पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य ॥ १ ॥

यस्य स्वयं सुरगुरुर्गरिमाम्बुराशेः
स्तोत्रं सुविस्तृतमतिर्न विभुर्विधातुम् ।
तीर्थेश्वरस्य कमठस्मयधूमकेतो-
स्तस्याहमेष किल संस्तवनं करिष्ये ॥२॥ युग्मम् ।

अन्वयार्थ-(कल्याणमन्दिरम्) कल्याणोंके मन्दिर, (उदारम्) उदार[1] (अवद्यभेदि) पापोंको नष्ट करनेवाले, (भीताभयप्रदम्) संसारसे डरे हुए जीवोंको अभयपद देनेवाले, (अनिन्दितम्) प्रशंसनीय और (संसारसागरनिमज्जदशेषजन्तुपोतायमानम्) संसाररूपी समुद्रमें डूबते हुए समस्त जीवोंके लिये जहाजके समान (जिनेश्वरस्य) जिनेन्द्र भगवान्के (अङ्घ्रिपद्मम्) चरणकमलको (अभिनम्य) नमस्कार करके, (गरिमाम्बुराशेः) गौरवके समुद्रस्वरूप

---

१ दाता या महान् 'उदारं दातृ महतोः' ।

(यस्य) जिन पार्श्वनाथकी (स्तोत्रम् विधातुम्) स्तुति करनेके लिये (स्वयं सुविस्तृतमतिः) खुद विस्तृत बुद्धिवाले (सुरगुरुः) बृहस्पति भी (विभुः) समर्थ (न 'अस्ति') नहीं है (कमठस्मयधूमकेतोः) कमठका मान भस्म करनेके लिये अग्निस्वरूप (तस्य तीर्थेश्वरस्य) उन भगवान् पार्श्वनाथकी (किल) आश्चर्य है कि (एषः अहम्) मैं (संस्तवनम् करिष्ये) स्तुति करूँगा ।

भावार्थ- जिनेन्द्र भगवानके चरणकमलोंको नमस्कारकर मैं उन पार्श्वनाथस्वामीकी स्तुति करता हूं, जो गुरुताके समुद्र थे और कमठका मान मर्दन करनेवाले थे। तथा बृहस्पति भी जिनकी स्तुति करनेके लिये समर्थ नहीं होसका था ॥ १ ॥ २ ॥

सामान्यतोऽपि तव वर्णयितुं स्वरूप-
मस्मादृशाः कथमधीश भवन्त्यधीशाः ॥
धृष्टोऽपि कौशिकशिशुर्यदि वा दिवान्धो
रूपं प्ररूपयति किं किल घर्मरश्मेः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ-(अधीश !) हे स्वामिन् ! (सामान्यतः अपि) साधारण रीतिसे भी (तव) तुम्हारे (स्वरूपम्) स्वरूपको (वर्णयितुम्) वर्णन करनेके लिये (अस्मादृशाः) मुझ जैसे मनुष्य (कथम्) कैसे (अधीशाः) समर्थ (भवन्ति) हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते । (यदि वा) अथवा (दिवान्धः) दिनमें अन्धा रहनेवाला (कौशिकशिशुः) उल्लूकका बच्चा (धृष्टः अपि 'सन्') धीठ होता हुआ भी (किम्) क्या (घर्मरश्मेः) सूर्यके (रूपम्) रूपका (वर्णयति किल) वर्णन कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता ।

भावार्थ-हे प्रभो ! जिसतरह उल्लूकका बालक सूर्यके रूपका वर्णन नहीं कर सक्ता, क्योंकि जबतक सूर्य रहता है तबतक वह

अन्धा रहता है, इसीतरह मैं आपके सामान्य स्वरूपका भी वर्णन नहीं कर सक्ता, क्योंकि मैं भी मिथ्याज्ञानरूपी अन्धकारसे अन्धा होकर आपके दर्शनसे वञ्चित रहा हूं ॥ ३ ॥

मोहक्षयादनुभवन्नपि नाथ मर्त्यो
नूनं गुणान्गणयितुं न तव क्षमेत ।
कल्पान्तवान्तपयसः प्रकटोऽपि यस्मा-
न्मीयेत केन जलधेर्ननु रत्नराशिः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ-(नाथ !) हे नाथ! (मर्त्यः) मनुष्य (मोहक्षयात्) मोहनीय कर्मके क्षयसे (अनुभवन् अपि) अनुभव करता हुआ भी (तव) आपके (गुणान्) गुणोंको (गणयितुम्) गिननेके लिये (नूनम) निश्चय करके (न क्षमेत) समर्थ नहीं होसकता है। (यस्मात्) क्योंकि (कल्पांतवांतपयसः) प्रलयकालके समय जिसका पानी बाहर होगया है ऐसे (जलधेः) समुद्रकी (प्रकटः अपि) प्रकट हुई भी (रत्नराशिः) रत्नोंकी राशि (ननु केन मीयेत ?) किसके द्वारा गिनी जा सकती है ? अर्थात् किसीके द्वारा नहीं।

भावार्थ-हे प्रभो ! जिसतरह प्रलयकालमें पानी न होनेसे साफ साफ दिखनेवाले समुद्रके रत्नोंको कोई नहीं गिन पाता उसी-तरह मिथ्यात्वके अभावसे साफ साफ दिखनेवाले आपके गुणोंको कोई नहीं गिंन सकता। क्योंकि वे अनन्तानन्त हैं ॥ ४ ॥

अभ्युद्यतोऽस्मि तव नाथ जड़ाशयोऽपि
कर्तुं स्तवं लसदसंख्यगुणाकरस्य ।
बालोऽपि किं न निजबाहुयुगं वितत्य
विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाम्बुराशेः ॥५॥

अन्वयार्थ-(नाथ !) हे स्वामिन् ! (जडाशयः अपि 'अहम्') मैं मूर्ख भी (लसदसंख्यगुणाकरस्य) शोभायमान असंख्यात गुणोंकी खानि स्वरूप (तव) आपके (स्तवम् कर्तुम्) स्तवन करनेके लिये (अभ्युद्यतः अस्मि) तयार हुआ हूं। क्योंकि (बालः अपि) बालक भी (स्वधिया) अपनी बुद्धिके अनुसार (निजबाहु-युगम्) अपने दोनों हाथोंको (वितत्य) फैलाकर (किम्) क्या (अम्बुराशेः) समुद्रके (विस्तीर्णताम्) विस्तारको (न कथयति) नहीं कहता ? अर्थात् कहता है ।

भावार्थ-हे नाथ ! जैसे बालक शक्ति न रहते हुए भी समुद्रका विस्तार वर्णन करनेके लिये तैयार रहता है वैसे ही मैं भी आपकी स्तुति करनेके लिये तैयार हूं ॥ ५ ॥

ये योगिनामपि न यान्ति गुणास्तवेश
वक्तुं कथं भवति तेषु ममावकाशः ।
जाता तदेवमसमीक्षितकारितेयं
जल्पन्ति वा निजगिरा ननु पक्षिणोऽपि ॥६॥

अन्वयार्थ-(ईश !) हे प्रभो ! (तव) आपके (ये गुणाः) जो गुण (योगिनाम् अपि) योगियोंको भी (वक्तुम्) कहनेके लिये (न यान्ति) नहीं प्राप्त होते-अर्थात् जिनका कथन योगीजन भी नहीं कर सक्ते (तेषु) उनमें (मम) मेरा (अवकाशः) अवकाश (कथम् भवति) कैसे हो सक्ता है? अर्थात् मैं उन्हें कैसे वर्णन कर सक्ता हूं ? (तत्) इसलिये (एवम्) इसप्रकार (इयम्) मेरा यह (असमी-क्षितकारिता जाता) विना विचारे काम करना हुआ (वा) अथवा (पक्षिणः अपि) पक्षी भी (निजगिरा) अपनी वाणीसे (जल्पन्ति ननु) बोला करते हैं ।

भावार्थ—हे प्रभो! आपका स्तवन प्रारम्भ करनेके पहले मैंने इस वातका विचार नहीं किया कि आपके जिन गुणोंका वर्णन वड़े वड़े योगी भी नहीं कर सक्ते हैं उनका वर्णन में कैसे करूंगा? इसलिये हमारी यह प्रवृत्ति विना विचारे हुई है॥ ६॥

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन संस्तवस्ते
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति।
तीव्रातपोपहतपान्थजनान्निदाघे
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि॥७॥

अन्वयार्थ—(जिन!) हे जिनेन्द्र! (अचिन्त्यमहिमा) अचिंत्य है माहात्म्य जिसका ऐसा (ते) आपका (संस्तवः) स्तवन (आस्ताम्) दूर रहे, (भवतः) आपका (नाम अपि) नाम भी (जगन्ति) जीवोंको (भवतः) संसारसे (पाति) वचा लेता है। क्योंकि (निदाघे) ग्रीष्मकालमें (तीव्रातपोपहतपान्थजनान्) तीव्र घामसे सताये हुए पथिकको (पद्मसरसः) कमलोंके सरोवरका (सरसः) सरस—शीतल (अनिलः अपि) पवन भी (प्रीणाति) सन्तुष्ट करता है।

भावार्थ—हे देव! आपके स्तवनकी तो अचिन्त्य महिमा है ही, पर आपका नाममात्र भी जीवोंको संसारके दुःखोंसे वचा लेता है। जैसे ग्रीष्मऋतुमें घामसे पीड़ित मनुष्योंको कमलयुक्त सरोवर तो सुख पहुंचाते ही हैं, पर उन सरोवरोंकी शीतल हवा भी सुख पहुंचाती है॥ ७॥

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो शिथिलीभवन्ति
जन्तोः क्षणेन निविडा अपि कर्मबन्धाः।
सद्यो भुजङ्गममया इव मध्यभाग-
मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य॥८॥

अन्वयार्थ—(विभो !) हे स्वामिन् ! (त्वयि) आपके (हृद्वर्तिनि 'सति') हृदयमें मौजूद रहते हुए (जन्तोः) जीवोंके (निविडाः अपि) सघन भी (कर्मबन्धाः) कर्मोंके वन्धन, (क्षणेन) क्षणभरमें (वनशिखण्डिनि) वन मयूरके (चन्दनस्य मध्यभागम् अभ्यागते 'सति') चन्दन तरुके वीचमें आनेपर (भुजङ्गममया इव) सर्पोंकी कुण्डलियोंके समान (सद्यः) शीघ्र ही (शिथिलीभवन्ति) ढीले होजाते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जिसतरह मयूरके आते ही चन्दन वृक्षमें लिपटे हुए सांप ढीले पड़ जाते हैं उसीतरह जीवोंके हृदयमें आपके आने पर उनके कर्मबन्धन ढीले पड़ जाते हैं ॥ ८ ॥

मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्र !
रौद्रैरुपद्रवशतैस्त्वयि वीक्षितेऽपि ।
गोस्वामिनि स्फुरिततेजसि दृष्टमात्रे
चौरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र !) हे जिनदेव ! (स्फुरिततेजसि) पराक्रमी (गोस्वामिनि) गायोंके मालिकके (दृष्टमात्रे) दिखते ही (आशु) शीघ्र ही (प्रपलायमानैः) भागते हुए (चौरैः) चोरोंके द्वारा (पशवः इव) पशुओंकी तरह (त्वयि वीक्षिते अपि) आपके दिखते ही—आपके दर्शन करते ही (मनुजाः) मनुष्य (रौद्रैः) भयङ्कर (उपद्रवशतैः) सैकड़ों उपद्रवोंके द्वारा (सहसा एव) शीघ्र ही (मुच्यन्ते) छोड़ दिये जाते हैं ।

भावार्थ—हे नाथ ! जिसतरह तेजस्वी मालिकके दिखते ही चोर चुराई हुई गायोंको छोड़कर शीघ्र ही भाग जाते हैं उसीतरह

आपके दर्शन होते ही अनेक भयङ्कर उपद्रव मनुष्योंको छोड़कर भाग जाते हैं ॥ ९ ॥

त्वं तारको जिन कथं भविनां त एव
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्तः ।
यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नून-
मन्तर्गतस्य मरुतः स किलानुभावः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(जिन !) हे जिनेन्द्रदेव ! (त्वम् भविनाम् तारकः कथम्) आप संसारी जीवोंके तारनेवाले कैसे होसकते हैं ? (यत्) क्योंकि (उत्तरन्तः) संसारसमुद्रसे पार होते हुये (ते एव) वे ससारी जीव ही (हृदयेन) हृदयसे (त्वाम्) आपको (उद्वहन्ति) तिरा लेजाते हैं (यद्वा) अथवा ठीक है कि (दृतिः) मसक (यत्) जो (जलम् तरति) पानीमें तैरती है (सः एषः) सो यह (नूनम्) निश्चयसे (अन्तर्गतस्य) भीतर स्थित (मरुतः) हवाका ही (अनुभावः किल) प्रभाव है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! जिसतरह भीतर भरी हुई वायुके प्रभावसे मसक पानीमें तिरती है इसीतरह आपको हृदयमें धारण करनेवाले (मनसे आपका चिन्तवन करनेवाले) पुरुष आपके ही प्रभावसे संसारसमुद्रसे तिरते हैं ॥ १० ॥

यस्मिन् हरप्रभृतयोऽपि हतप्रभावाः
सोऽपि त्वया रतिपतिः क्षपितः क्षणेन ।
विध्यापिता हुतभुजः पयसाथ येन
पीतं न किं तदपि दुर्द्धरवाडवेन ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(यस्मिन्) जिसके विषयमें (हरप्रभृतयः अपि) महादेव आदि भी (हतप्रभावाः 'जाताः') प्रभाव रहित होगये हैं

(सः) वह (रतिपतिः अपि) कामदेव भी (त्वया) आपके द्वारा (क्षणेन) क्षणमात्रमें (क्षपितः) नष्ट कर दिया गया (अथ) अथवा ठीक है कि (येन पयसा) जिस जलने (हुतभुजः विध्यापिताः) अग्निको बुझाया है (तत् अपि) वह जल भी (दुर्द्धरवाडवेन) प्रचण्ड वडवानलके द्वारा (किम्) क्या (न पीतम्) नहीं पिया गया ? अर्थात् पिया गया ।

भावार्थ—जिस कामने हरि हर ब्रह्मा आदि महापुरुषोंको पराजित कर दिया था उस कामको भी आपने पराजित कर दिया यह आश्चर्यकी वात नहीं है । क्योंकि जो जल संसारकी समस्त अग्निको नष्ट करता है उस जलको भी वड़वानल नामक समुद्रकी अग्नि नष्ट कर डालती है ॥ ११ ॥

स्वामिन्ननल्पगरिमाणमपि प्रपन्ना-
स्त्वां जन्तवः कथमहो हृदये दधानाः ।
जन्मोदधिं लघु तरन्त्यतिलाघवेन
चिन्त्यो न हन्त महतां यदि वा प्रभावः ॥१२॥

अन्वयार्थ–(स्वामिन् !) हे प्रभो ! (अहो) आश्चर्य है कि (अनल्पगरिमाणम् अपि) अधिक गौरवसे युक्त भी [विरोध पक्षमें-अत्यन्त वजनदार] (त्वाम्) आपको (प्रपन्नाः) प्राप्त हो (हृदये दधानाः) हृदयमें धारण करनेवाले (जन्तवः) प्राणी (जन्मोदधिम्) संसार-समुद्रको (अतिलाघवेन) बहुत ही लघुतासे (कथम्) कैसे (लघु) शीघ्र (तरन्ति) तर जाते हैं । (यदि वा) अथवा (हन्त) हर्ष है कि (महताम्) महापुरुषोंका (प्रभावः) प्रभाव (चिन्त्यः) चिन्तवनके योग्य (न 'भवति') नहीं होता है ।

भावार्थ–श्लोकमें आये हुए 'अनल्पगरिमाणम्' पदके 'अधिक

वजनदार' और 'अत्यन्त गौरवसे युक्त–श्रेष्ठ' इस तरह दो अर्थ होते हैं। उनमेंसे आचार्यने प्रथम अर्थको लेकर विरोध बतलाते हुए आश्चर्य प्रकट किया है और दूसरे अर्थको लेकर उस विरोधका परिहार किया है ॥ १२ ॥

क्रोधस्त्वया यदि विभो प्रथमं निरस्तो
ध्वस्तास्तदा वद कथं किल कर्मचौराः ।
प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिरापि लोके
नीलद्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी ॥१३॥

अन्वयार्थ–(विभो !) हे स्वामिन् ! (यदि) यदि (त्वया) आपके द्वारा (क्रोधः) क्रोध (प्रथमम्) पहले ही (निरस्तः) नष्ट कर दिया गया था (तदा) तो फिर (वद) कहिये कि आपने (कर्मचौराः) कर्मरूप चोर (कथम्) कैसे (ध्वस्ताः किल) नष्ट किये ? (यदि वा) अथवा (अमुत्र लोके) इस लोकमें (हिमानी शिशिरा अपि) वर्फ तुषार ठण्डा होनेपर भी (किम्) क्या (नील-द्रुमाणि) हरे हरे हैं वृक्ष जिनमें ऐसे (विपिनानि) वनोंको (न प्लोषति) नहीं जला देता है ? अर्थात् जला देता है-मुरझा देता है।

भावार्थ–लोकमें ऐसा देखा जाता है कि क्रोधी मनुष्य ही शत्रुओंको जीतते हैं, पर भगवन् ! आपने क्रोधको तो नवमें गुण-स्थानमें ही जीत लिया था। फिर क्रोधके अभावमें चौदहवें गुणस्थान-तक कर्मरूपी शत्रुओंको कैसे जीता ? आचार्यने इस लोकविरुद्ध बातपर पहले आश्चर्य प्रगट किया, पर जब बादमें उन्हें ख्याल आता है कि ठण्डा तुषार बड़े बड़े वनोंको क्षणभरमें जला देता है अर्थात् क्षमासे भी शत्रु जीते जासकते हैं, तब वे अपने आश्चर्यका स्वयं समाधान कर लेते हैं ॥ १३ ॥

त्वां योगिनो जिन सदा परमात्मरूप-
मन्वेषयन्ति हृदयाम्बुजकोशदेशे ।
पूतस्य निर्मलरुचेर्यदि वा किमन्य-
दक्षस्य सम्भवपदं ननु कर्णिकायाः ॥१४॥

अन्वयार्थ-(जिन!) हे जिनेन्द्र ! (योगिनः) ध्यान करनेवाले मुनीश्वर (सदा) हमेशा (परमात्मरूपम्) परमात्मस्वरूप (त्वाम्) आपको (हृदयाम्बुजकोशदेशे) अपने हृदयरूप कमलके मध्यभागमें (अन्वेषयन्ति) खोजते हैं (यदि वा) अथवा ठीक है कि (पूतस्य) पवित्र और (निर्मलरुचेः) निर्मल कान्तिवाले (अक्षस्य) कमलके बीजका अथवा शुद्धात्माका (सम्भवपदम्) उत्पत्ति स्थान अथवा खोज करनेका स्थान (कर्णिकायाः अन्यत्) कमलकी कर्णिका-डण्ठलको छोड़कर अथवा हृदय-कमलकी कर्णिकाको छोड़कर (अन्यत् किम् ननु) दूसरा क्या हो सक्ता है ?

भावार्थ-बड़े बड़े योगीश्वर ध्यान करते समय अपने हृदय-कमलमें आपको खोजते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि जैसे कमल बीजकी उत्पत्ति कमल कर्णिकामें ही होती है उसीतरह शुद्धात्म-स्वरूप आपका सद्भाव भी हृदय-कमलकी कर्णिकामें ही होगा। श्लोकमें आये हुए अक्ष शब्दके 'कमलबीज-कमलगटा' और आत्मा (अक्ष्णाति-जानातीत्यक्षः=आत्मा) इसतरह दो अर्थ होते हैं॥ १४॥

ध्यानाज्जिनेश भवतो भविनः क्षणेन
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति ।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ–(जिनेश!) हे जिनेन्द्र! (लोके) लोकमें (तीव्रानलात्) तीव्र अग्निके सम्बन्धसे (धातुभेदाः) अनेक धातुएं (उपलभावम्) पत्थररूप पूर्व पर्यायको (अपास्य) छोड़कर (अचिरात्) शीघ्र ही (चामीकरत्वम् इव) जिस तरह सुवर्ण पर्यायको प्राप्त होजाती हैं उसीतरह (भविनः) संसारके प्राणी (भवतः) आपके (ध्यानात्) ध्यानसे (देहम्) शरीरको (विहाय) छोड़कर (क्षणेन) क्षणभरमें (परमात्म–दशाम्) परमात्माकी अवस्थाको (व्रजन्ति) प्राप्त होजाते हैं।

भावार्थ–जो जीव आपका ध्यान करते हैं वे थोड़े ही समयमें शरीर छोड़कर मुक्त होजाते हैं ॥ १५ ॥

अन्तः सदैव जिन यस्य विभाव्यसे त्वं
भव्यैः कथं तदपि नाशयसे शरीरम्।
एतत्स्वरूपमथ मध्यविवर्तिनो हि
यद्विग्रहं प्रशमयन्ति महानुभावाः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ–(जिन!) हे जिनेन्द्र! (भव्यैः) भव्य जीवोंके द्वारा (यस्य) जिस शरीरके (अन्तः) भीतर (त्वम्) आप (सदैव) हमेशा (विभाव्यसे) ध्याये जाते हो (तत्) उस (शरीरम् अपि) शरीरको भी आप (कथम्) क्यों (नाशयसे) नष्ट करा देते हैं? (अथ) अथवा (एतत्स्वरूपम्) यह स्वभाव ही है (यत्) कि (मध्यविवर्तिनः) मध्यस्थ–बीचमें रहनेवाले और रागद्वेषसे रहित (महानुभावाः) महापुरुष (विग्रहम्) विग्रह–शरीर और द्वेषको (प्रशमयन्ति) शांत करते हैं।

भावार्थ–लोकमें रीति प्रचलित है कि जो जहाँ रहता है अथवा जहां जिसका ध्यान सन्मान आदि किया जाता है वह उस जगहका

विनाश नहीं करता। पर भगवन्! आप भव्य जीवोंके जिस शरीरमें हमेशा सन्मान पूर्वक ध्याये जाते हैं आप उन्हें उसी विग्रह (शरीर)को नष्ट करनेका उपदेश देते हैं। आचार्यको पहले इस लोकविरुद्ध वात पर भारी आश्चर्य होता है पर जव उनकी दृष्टि विग्रह शब्दके द्वेप अर्थ पर जाती है तव उनका आश्चर्य दूर होजाता है। श्लोकमें आये हुए विग्रह शब्दके दो अर्थ हैं—एक 'शरीर' और दूसरा 'द्वेप'। इसी तरह 'मध्यविवर्तिनः' शब्दके भी दो अर्थ हैं—एक 'वीचमें रहनेवाला' और दूसरा 'रागद्वेपसे रहित समताभावी' ॥ १६ ॥

आत्मा मनीपिभिरयं त्वदभेदबुद्धया
ध्यातो जिनेन्द्र भवतीह भवत्प्रभावः ।
पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमानं
किं नाम नो विपविकारमपाकरोति ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र !) हे जिनदेव ! (मनीपिभिः) बुद्धिमानोंके द्वारा (त्वदभेदबुद्धया) 'आपसे अभिन्न है' ऐसी बुद्धिसे (ध्यातः) ध्यान किया गया (अयम् आत्मा) यह आत्मा (भवत्प्रभावः) आपहीके समान प्रभाववाला (भवति) हो जाता है। (अमृतम् इति अनुचिन्त्यमानम्) यह अमृत है इसतरह निरन्तर चिन्तवन किया जानेवाला (पानीयम् अपि) पानी भी (किम्) क्या (विपविकारम्) विपके विकारको (नो अपाकरोति नाम) दूर नहीं करता ? अर्थात् करता है।

भावार्थ—जो पुरुप अपने आपको आपसे अभिन्न अनुभव करता है अर्थात् जो सोचता है कि 'भगवन्! जैसी विशुद्ध आत्मा आपकी है निश्चय नयसे हमारी आत्मा भी वैसी ही आपके समान विशुद्ध है किंतु वर्तमानमें कर्मोदयसे अशुद्ध हो रही है। यदि मैं भी आपके रास्तेपर चलनेका प्रयत्न करूं तो मेरी आत्मा भी शुद्ध होजावेगी'।

ऐसा सोचकर जो शुद्ध होनेका प्रयत्न करता है वह आपके ही समान शुद्ध होजाता है। जैसे कि यह अमृत है इसप्रकार निरन्तर चिन्तवन किया गया पानी मन्त्रादिके संयोगसे अमृत रूप होजाता है और विषके विकारको दूर करने लगता है ॥ १७ ॥

त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि
नूनं विभो हरिहरादिधिया प्रपन्नाः।
किं काचकामलिभिरीश सितोऽपि शङ्खो
नो गृह्यते विविधवर्णविपर्ययेण ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ–(विभो!) हे स्वामिन्! (परवादिनः अपि) अन्यमतावलम्वी पुरुष भी (वीततमसम्) अज्ञान अन्धकारसे रहित (त्वाम् एव) आपको ही (नूनम्) निश्चयसे (हरिहरादिधिया) विष्णु महादेव आदिकी कल्पनासे (प्रपन्नाः) प्राप्त होते हैं–पूजते हैं। (किम्) क्या (ईश!) हे विभो! (काचकामलिभिः) जिनकी आंखपर रंगदार चश्मा है अथवा जिन्हें पीलिया रोग होगया है ऐसे पुरुषोंके द्वारा (सङ्खः सितः अपि) शङ्ख सफेद होने पर भी (विविध-वर्णविपर्ययेण) तरह तरहके विपरीत वर्णोंसे (नो गृह्यते) नहीं ग्रहण किया जाता ? अर्थात् किया जाता है।

भावार्थ–हे भगवन्! जिसतरह पीले चश्मावाला अथवा पीलिया रोगवाला मनुष्य सफेद शंखको पीला समझकर ग्रहण करता है उसीतरह मिथ्यात्वके उदयसे अन्य मतावलम्वी पुरुष आपको विष्णु, महेश्वर आदि मानकर पूजते हैं ॥ १८ ॥

धर्मोपदेशसमये सविधानुभावा-
दास्तां जनो भवति ते तरुरप्यशोकः।
अभ्युद्गते दिनपतौ समहीरुहोऽपि
किं वा विबोधमुपयाति न जीवलोकः ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ–(धर्मोपदेशसमये) धर्मोपदेशके समय (ते) आपकी (सविधानुभावात्) समीपताके प्रभावसें (जनः आस्ताम्) मनुष्य तो दूर रहे (तरुः अपि) वृक्ष भी (अशोकः) अशोक=शोकरहित (भवति) होजाता है । (वा) अथवा (दिनपतौ अभ्युद्गते 'सति') सूर्यके उदित होनेपर (समहीरुहः अपि जीवलोकः) वृक्षोंसहित समस्त जीवलोक (किम्) क्या (विबोधम्) विकाश=विशेष ज्ञानको (न उपयाति) प्राप्त नहीं होते ? अर्थात् होते हैं ।

भावार्थ–इस श्लोकमें अशोक शब्दके दो अर्थ हैं–एक अशोक वृक्ष और दूसरा शोक रहित । इसी तरह विबोध शब्दके भी दो अर्थ हैं–एक विशेष ज्ञान और दूसरा हराभरा तथा प्रफुल्लित होना । हे भगवन् ! जब आपके पाससें रहनेवाला वृक्ष भी अशोक होजाता है तब आपके पास रहनेवाला मनुष्य अशोक=शोक रहित होजावे इसमें क्या आश्चर्य है ? यह 'अशोकवृक्ष' प्रातिहार्यका वर्णन है ॥१९॥

चित्रं विभो कथमवाङ्मुखवृन्तमेव
विष्वक्पतत्यविरला सुरपुष्पवृष्टिः ।
त्वद्गोचरे सुमनसां यदि वा मुनीश !
गच्छन्ति नूनमध एव हि बन्धनानि ॥ २० ॥

अन्वयार्थ–(विभो !) हे प्रभो ! (चित्रम्) आश्चर्य है कि (विष्वक्) सब ओर (अविरला) व्यवधान रहित (सुरपुष्पवृष्टिः) देवोंके द्वारा की हुई फूलोंकी वर्षा (अवाङ्मुखवृन्तम् एव 'यथा स्यात्तथा') नीचेको बन्धन करके ही (कथम्) क्यों (पतति) पड़ती है ? (यदि वा) अथवा ठीक है कि (मुनीश !) हे मुनियोंके नाथ ! (त्वद्गोचरे) आपके समीप (सुमनसाम्) पुष्पों अथवा विद्वानोंके (बन्धनानि) डंठल अथवा कर्मोंके बन्धन (नूनम् हि) निश्चयसे ही (अधः एव गच्छन्ति) नीचेको ही जाते हैं ।

भावार्थ–इस श्लोकमें सुमनस् शब्दके दो अर्थ हैं–एक फूल और दूसरा विद्वान् या देव। इसीतरह बन्धन शब्दके भी दो अर्थ हैं–एक फूलोंका बन्धन डंठल और दूसरा कर्मोंके प्रकृति आदि चार तरहके बन्ध। हे भगवन्! जो आपके पास रहता है उसके कर्मोंके बन्धन नीचे चले जाते हैं–नष्ट होजाते हैं। इसीलिये तो आपके ऊपर जो फूलोंकी वर्षा होती है उनमें फूलोंके बन्धन नीचे होते हैं और पांखुरी ऊपर। यह 'पुष्पवृष्टि' प्रातिहार्यका वर्णन है॥ २०॥

स्थाने गभीरहृदयोदधिसम्भवायाः
पीयूषतां तव गिरः समुदीरयन्ति।
पीत्वा यतः परमसंमदसङ्गभाजो
भव्या व्रजन्ति तरसाप्यजरामरत्वम्॥ २१॥

अन्वयार्थ–(गभीरहृदयोदधिसंभवायाः) गम्भीर हृदयरूपी समुद्रमें पैदा हुई (तव) आपकी (गिरः) वाणीके (पीयूषताम्) अमृतपनेको लोग (स्थाने) ठीक ही (समुदीरयन्ति) प्रकट करते हैं। (यतः) क्योंकि (भव्याः) भव्य जीव ('ताम्' पीत्वा) उसे पीकर (परमसंमदसङ्गभाजः 'सन्तः') परम सुखके भागी होते हुए (तरसा अपि) बहुत ही शीघ्र (अजरामरत्वम्) अजर अमरपनेको (व्रजन्ति) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ–लोकमें प्रचलित है कि अमृत गहरे समुद्रसे निकला था और उसका पान करनेसे देव लोग अत्यन्त आनन्दित होते हुए अजर=बुढ़ापा रहित तथा अमर=मृत्युरहित होगये थे। भगवन्! आपकी वाणी भी आपके गंभीर हृदयरूपी समुद्रसे पैदा हुई है और उसके सेवन करनेसे लोक परम सुखी हो अजर अमर होजाते हैं–मुक्त हो जाते हैं ऐसी हालतमें लोग यदि यह कहें कि आपकी वाणी

अमृत है तो ठीक ही कहते हैं। यह 'दिव्यध्वनि' प्रातिहार्यका वर्णन है ॥ २१ ॥

स्वामिन् सुदूरमवनम्य समुत्पतन्तो
मन्ये वदन्ति शुचयः सुरचामरौघाः ।
येऽस्मै नतिं विदधते मुनिपुङ्गवाय
ते नूनमूर्ध्वगतयः खलु शुद्धभावाः ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ–(स्वामिन्) हे प्रभो! (मन्ये) मैं मानता हूं कि (सुदूरम्) नीचेको बहुत दूर तक (अवनम्य) नम्रीभूत होकर (समुत्पतन्तः) ऊपरको जाते हुए (शुचयः) पवित्र (सुरचामरौघाः) देवोंके चमर-समूह (वदन्ति) लोगोंसे कह रहे हैं कि (ये) जो (अस्मै मुनिपुङ्गवाय) इन श्रेष्ठ मुनिको (नतिम्) नमस्कार (विदधते) करते हैं (ते) वे (नूनम्) निश्चयसे (शुद्धभावाः) विशुद्ध परिणामवाले होकर (ऊर्ध्वगतयः) ऊर्ध्व गतिवाले ('भवन्ति' खलु) होजाते हैं अर्थात् स्वर्ग-मोक्षको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ–हे भगवन्! जब देवलोग आप पर चंवर ढोरते हैं तब वे चंवर पहले नीचेकी ओर झुकते हैं और बादमें ऊपरको जाते हैं, सो मानों लोगोंसे यह कहते हैं कि भगवान्‌को झुक कर नमस्कार करनेवाले पुरुष हमारे समान ही ऊपरको जाते हैं अर्थात् स्वर्ग मोक्षको पाते हैं। यह 'चमर' प्रातिहार्यका वर्णन है ॥ २२ ॥

श्यामं गभीरगिरमुज्ज्वलहेमरत्न-
सिंहासनस्थमिह भव्यशिखण्डिनस्त्वाम् ।
आलोकयन्ति रभसेन नदन्तमुच्चै-
श्चामीकराद्रिशिरसीव नवाम्बुवाहम् ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ–(इह) इस लोकमें (श्यामम्) श्यामवर्ण (गभीर-

गिरम्) गम्भीर दिव्यध्वनियुक्त और (उज्वलहेमरत्नसिंहासनस्थम्) निर्मल सुवर्णके बने हुए रत्नजड़ित सिंहासन पर स्थित (त्वाम्) आपको (भव्यशिखण्डिनः) भव्यजीवरूपी मयूर (चामी कराद्रिशिरसि) सुवर्णमय मेरुपर्वतकी शिखर पर (उच्चैः नदन्तम्) जोरसे गर्जते हुए (नवाम्बुवाहम् इव) नूतन मेघकी तरह (रभसेन) उत्कण्ठापूर्वक (आलोकयन्ति) देखते हैं ।

भावार्थ–हे प्रभो ! जिसतरह सुवर्णमय मेरुपर्वत घुमड़े हुए-गर्जना करनेवाले काले मेघको देखकर मयूरोंको बहुत ही आनन्द होता है उसीतरह दिव्यध्वनि करते हुए तथा सोनेके सिंहासनपर विराजमान श्यामवर्णवाले आपके दर्शनकर भव्य जीवोंको अत्यन्त आनन्द होता है । उनका मन मयूरकी तरह नाचने लगता है । यह 'सिंहासन' प्रातिहार्यका वर्णन है ॥ २३ ॥

उद्गच्छता तव शितिद्युतिमण्डलेन
लुप्तच्छदच्छविरशोकतरुर्बभूव ।
सांनिध्यतोऽपि यदि वा तव वीतराग !
नीरागतां व्रजति को न सचेतनोऽपि ॥२४॥

अन्वयार्थ–(उद्गच्छता) स्फुरायमान (तव) आपके (शिति-द्युतिमण्डलेन) श्याम प्रभामण्डलके द्वारा (अशोकतरुः) अशोक वृक्ष (लुप्तच्छदच्छविः) कान्तिहीन पत्रोंवाला (बभूव) होगया (यदि वा) अथवा (वीतराग !) हे रागद्वेष रहित देव ! (तव सांनिध्यतः अपि) आपकी समीपता मात्रसे ही (कः सचेतनः अपि) कौन पुरुष सचेतन होकर भी (नीरागताम्) राग-ललाईसे रहितपने अथवा अनुरागके अभावको (न व्रजति) नहीं प्राप्त होता ? अर्थात् अवश्य होता है ।

भावार्थ—यह "भामण्डल" प्रातिहार्यका वर्णन है। हे भगवन्! आपकी श्यामल कान्तिके संसर्गसे अशोक वृक्षकी लालिमा दब गई सो ठीक ही है; वीतराग (ललाई रहित, दूसरे पक्षमें स्नेहरहित) के समीपसे कौन सचेतन-प्राणी वीतराग (ललाई रहित, दूसरे पक्षमें स्नेह रहित) नहीं होजाता? अर्थात् सभी होजाते हैं। इस श्लोकमें रागपद दो अर्थवाला है—अनुराग-प्रेम-स्नेह और दूसरा लालिमा-ललाई ॥ २४ ॥

भो भोः प्रमादमवधूय भजध्वमेन-
मागत्य निर्वृतिपुरीं प्रति सार्थवाहम्।
एतन्निवेदयति देव जगत्त्रयाय
मन्ये नदन्नभिनभः सुरदुन्दुभिस्ते ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—(देव!) हे देव! (मन्ये) मैं समझता हूं कि (अभिनभः) आकाशमें (नदन्) शब्द करती हुई (ते) आपकी (सुरदुन्दुभिः) देवोंके द्वारा बजाई गई दुन्दुभि (जगत्त्रयाय) तीन लोकके जीवोंको (एतत् निवेदयपति) यह सूचित कर रही है कि (भोः भोः) रे रे प्राणियो! (प्रमादम् अवधूय) प्रमादको छोड़कर (निर्वृतिपुरीम् प्रति सार्थवाहम्) मोक्षपुरीको ले जानेमें अगुआ (एवम्) इन भगवान्को (आगत्य) आकर (भजध्वम्) भजो।

भावार्थ—हे प्रभो! आकाशमें जो देवोंका नगाड़ा बज रहा है वह मानों तीन लोकके जीवोंको चिल्ला २ कर सचेत कर रहा है कि जो मोक्षनगरीकी यात्राके लिये जाना चाहते हैं वे प्रमाद छोड़कर भगवान् पार्श्वनाथकी सेवा करें। यह 'दुन्दुभि' प्रातिहार्यका वर्णन है ॥ २५ ॥

उद्योतितेषु भवता भुवनेषु नाथ
तारान्वितो विधुरयं विहताधिकारः ।
मुक्ताकलापकलितोल्लसितातपत्र
व्याजात्त्रिधा धृततनुर्ध्रुवमभ्युपेतः ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ–(नाथ !) हे स्वामिन् ! (भवता भुवनेषु उद्योतितेषु 'सत्सु') आपके द्वारा तीनों लोकोंके प्रकाशित होनेपर (विहताधिकार) अपने अधिकारसे भ्रष्ट तथा (मुक्ताकलापकलितोल्लसितातपत्रव्याजात्) मोतियोंके समूहसे सहित अतएव शोभायमान सफेद छत्रके छलसे (तारान्वितः) ताराओंसे वेष्ठित (अयम् विधुः) यह चन्द्रमा (त्रिधा धृततनुः) तीन तीन शरीर धारणकर (ध्रुवम्) निश्चयसे ('त्वाम्' अभ्युपेतः) आपकी सेवामें प्राप्त हुआ है ।

भावार्थ–हे प्रभो ! जब आपने अपनी कांति वा ज्ञानसे तीनों लोकोंको प्रकाशित कर दिया तब मानों चन्द्रमाका प्रकाश करने रूप अधिकार छीन लिया गया । इसलिये वह तीन छत्रका वेष धरकर आपकी सेवामें अपना अधिकार वापिस चाहनेके लिये उपस्थित हुआ है । छत्रोंमें जो मोती लगे हुए हैं वे मानों चन्द्रमाके परिवारस्वरूप तारागण हैं । यह 'छत्रत्रय' प्रातिहार्यका वर्णन है ॥ २६ ॥

स्वेन प्रपूरितजगत्त्रयपिण्डितेन
कान्तिप्रतापयशसामिव सञ्चयेन ।
माणिक्यहेमरजतप्रविनिर्मितेन
सालत्रयेण भगवन्नभितो विभासि ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ–(भगवन् !) हे भगवन् ! आप (अभितः) चहुंओर, (प्रपूरितजगत्त्रयपिण्डितेन) भर दिया है तीनों जगत्के पिण्डको जिसने ऐसे (स्वेन कान्तिप्रतापयशसाम् सञ्चयेन इव) अपने कांति

प्रताप और यशके समूहके समान शोभायमान (माणिक्यहेमरजत-प्रविनिर्मितेन) माणिक्य सुवर्ण और चांदीसे बने हुये (सालत्रयेण) तीन कोटोंसे (विभासि) शोभायमान होते हो।

भावार्थ–हे भगवन्! समवसरण भूमिमें जो आपके चारों ओर माणिक्य सुवर्ण और चांदीके बने हुए तीन कोट हैं वे मानों आपकी कांति प्रताप और यशका वह समूह है जो कि तीनों जगत्में फैला हुआ है॥ २७॥

दिव्यस्रजो जिन नमत्रिदशाधिपाना-
मुत्सृज्य रत्नरचितानपि मौलिबन्धान्।
पादौ श्रयन्ति भवतो यदि वापरत्र
त्वत्सङ्गमे सुमनसो न रमन्त एव॥ २८॥

अन्वयार्थ—(जिन!) हे जिनेन्द्र! (दिव्यस्रजः) दिव्य पुरुपोंकी मालाएं (नमत्त्रिदशाधिपानाम्) नमस्कार करते हुए इंद्रोंके (रत्नरचितान् अपि मौलिबन्धान्) रत्नोंसे बने हुए मुकुटोंको भी (विहाय) छोड़कर (भवतः पादौ श्रयन्ति) आपके चरणोंका आश्रय लेती हैं। (यदि वा) अथवा ठीक है कि (त्वत्सङ्गमे 'सति') आपका समागम होनेपर (सुमनसः) पुष्प अथवा विद्वान् पुरुष (अपरत्र) किसी दूसरी जगह (न एव रमन्ते) नहीं रमण करते हैं।

भावार्थ—श्लोकमें आये हुए सुमनस् शब्दके दो अर्थ हैं–एक पुष्प और दूसरा विद्वान् पुरुष। हे भगवन्! नमस्कार करते समय देवोंके मुकुटोंमें लगी हुई फूलोंकी मालाएं जो आपके चरणोंमें गिर जाती हैं सो मानों वे पुष्पमालाएं आपसे इतना अधिक प्रेम करती हैं कि उनके पीछे देवोंके रत्नोंसे बने हुए मुकुटोंको भी छोड़ देती हैं। सुमनस=फूलोंका (दूसरे पक्षमें–विद्वानोंका) आपमें अगाध प्रेम

होना उचित ही है। श्लोकका तात्पर्य यह है कि आपके लिये बड़े इन्द्र भी नमस्कार करते हैं ॥ २८ ॥

त्वं नाथ जन्मजलधेर्विपराङ्मुखोऽपि
यत्तारयस्यसुमतो निजपृष्ठलग्नान् ।
युक्तं हि पार्थिवनिपस्य सतस्तवैव
चित्रं विभो यदसि कर्मविपाकशून्यः ॥२९॥

अन्वयार्थ–(नाथ!) हे स्वामिन्! (त्वम्) आप (जन्मजलधेः) संसार रूप समुद्रसे (विपराङ्गमुखः अपि सन्) पराङ्मुख होते हुये भी (यत्) जो (निजपृष्ठलग्नान्) अपने पीछे लगे हुये अनुयायी (असुमतः) जीवोंको (तारयसि) तार देते हो ('तत्' वह (पार्थिवनिपस्य सतः) मिट्टीके पके हुये घड़ेकी तरह परिणमन करनेवाले (तव) आपको (युक्तम् एव) उचित ही है। परंतु (विभो!) हे प्रभो! ('तत्' चित्रम्) वह आश्चर्यकी बात है (यत्) जो आप (कर्मविपाकशून्यः असि) कर्मोंके उदयरूप पाक क्रियासे रहित हो।

भावार्थ जिस तरह घड़ा पानीमें अधोमुख होकर अपनी पीठ पर स्थित लोगोंको नदी आदिसे पार कर देता है, उसी तरह आप यद्यपि राग न होनेसे संसार-समुद्रसे पराङ्गमुख रहते हैं तथापि अपने अनुयायियोंको उससे पार लगा देते हैं–मोक्ष प्राप्त करा देते हैं। पर जब घड़ा अग्निसे पकाया हुआ हो तभी पानीमें तैर कर दूसरोंको पार करता है। कच्चा घड़ा पानीमें गल कर घुल जाता है। किंतु आप पाक रहित हो यह आश्चर्यकी बात है। उसका परिहार यह है कि आप कर्मोंके उदयसे रहित हैं। श्लोकमें आये हुए विपाक शब्दके दो अर्थ हैं–आगीसे किसी कोमल मिट्टीकी वस्तुका कठोर होना और कर्मोंका उदय आना ॥ २९ ॥

विश्वेश्वरोऽपि जनपालक दुर्गतस्त्वं
किं वाक्षरप्रकृतिरप्यलिपिस्त्वमीश ।
अज्ञानवत्यपि सदैव कथंचिदेव
ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्वविकासहेतु ॥३०॥

अन्वयार्थ–(जनपालक) हे जीवोंके रक्षक ! (त्वम्) आप (विश्वेश्वरः अपि दुर्गतः) तीन लोकके स्वामी होकर भी दरिद्र हैं (किं वा) और (अक्षरप्रकृतिः अपि त्वम् अलिपिः) अक्षरस्वभाव होकर भी लेखनक्रियासे रहित हैं। (ईश) हे स्वामिन् ! (कथंचित्) किसी प्रकारसे (अज्ञानवति अपि त्वयि) अज्ञानवान् होनेपर भी आपमें (विश्वविकासहेतु ज्ञानम् सदा एव स्फुरति) सब पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला ज्ञान हमेशा स्फुरायमान रहता है।

भावार्थ—इस श्लोकमें विरोधाभास अलङ्कार है। विरोधाभास अलङ्कारमें शब्दके सुनते समय तो विरोध मालूम होता है पर अर्थ विचारनेपर बादमें उसका परिहार होजाता है। जहां इस अलङ्कारका मूल श्लेष होता है वहां बहुत ही अधिक चमत्कार पैदा होजाता है। देखिये–भगवन् ! आप विश्वेश्वर होकर भी दुर्गत हैं। यह पूरा विरोध है। भला, जो जगत्का ईश्वर है वह दरिद्र कैसे होसक्ता है ? विश्वेश्वर होकर भी दुर्गत=कठिनाईसे जाने जासक्ते हैं। इसी तरह आप अक्षर प्रकृति–अक्षर स्वभाववाले होकर भी अलिपि लिखे नहीं जासकते यह विरोध है। जो क ख आदि अक्षरों जैसा है वह लिखा क्यों न जावेगा ? परन्तु दोनों शब्दोंका श्लेष विरोधको दूर कर देता है। आप अक्षर प्रकृति–अविनश्वर स्वभाववाले होकर भी अलिपि=आकार रहित हैं–निराकार हैं। इसी प्रकार अज्ञानवति अपि अज्ञान युक्त होने पर भी आपमें विश्वविकाशि ज्ञानं स्फुरति

संसारके सब पदार्थोंको जाननेवाला ज्ञान स्फुरायमान होता हैं, यह विरोध है। जो अज्ञानयुक्त है उसमें पदार्थोंका ज्ञान कैसा ? पर इसका भी नीचे लिखे अनुसार परिहार होजाता है—अज्ञान् अवति अपि त्वयि—अज्ञानी मनुष्योंकी रक्षा करनेवाले आपमें हमेशा केवल-ज्ञान जगमगाता रहता है ॥ ३० ॥

प्राग्भारसम्भृतनभांसि रजांसि रोषा-
दुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि।
छायापि तैस्तव न नाथ हता हताशो
ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे स्वामिन् ! (प्राक्) पहले (शठेन कमठेन) दुष्ट कमठके द्वारा (रोपात्) क्रोधसे (भारसम्भृतनभांसि) समूहसे आकाशको व्याप्त करनेवाली (यानि) जो (रजांसि) धूल (उत्थापितानि) आपके ऊपर उड़ाई गई थी (तैः तु) उससे तो (तव) आपकी (छाया अपि) छाया भी (न हता) नहीं नष्ट हुई थी (परम्) किन्तु (अयमेव दुरात्मा) यही दुष्ट (हताशः) हताश हो (अमीभि) कर्मरूप रजोंसे (ग्रस्तः) जकड़ा गया था।

भावार्थ—जब भगवान् पार्श्वनाथ तपस्या कर रहे थे तब उनके पूर्वभवके वैरी कमठके जीवने उनपर धूल उड़ाकर भारी उपसर्ग किया था। लोकमें यह देखा जाता है कि जो सूर्यपर धूल फेंकता है उससे सूर्यकी जरा भी कान्ति नष्ट नहीं होती, पर वही धूलि फेंकनेवालेके ऊपर गिरती है। श्लोकमें आये हुए रज शब्दके दो अर्थ हैं—एक धूलि, दूसरा कर्म। कमठके जीवने भगवान्पर उपसर्ग कर कर्मोंका बन्ध किया था इस बातको कविने लोक-प्रचलित उक्त उदाहरणसे स्पष्ट किया है ॥ ३१ ॥

यद्गर्जदूर्जितघनौघमदभ्रभीमं
भ्रश्यत्तडिन्मुसलमांसलघोरधारम् ।
दैत्येन मुक्तमथ दुस्तरवारि दध्रे
तेनैव तस्य जिन दुस्तरवारिकृत्यम् ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ–(अथ) और (जिन) हे जिनेश्वर! (दैत्येन) उस कमठने (गर्जदूर्जितघनौघम्) खूब गर्ज रहे हैं मेघसमूह जिसमें (भ्रश्यत्तडित्) गिर रही है विजली जिसमें और (मुसलमांसल-घोरधारम्) मूसलके समान है वड़ी मोटी धारा जिसमें ऐसा तथा (अदभ्रभीमम्) अत्यंत भयङ्कर (यत्) जो (दुस्तरवारि) अथाह जल (मुक्तम्) वर्षाया था (तेन) उस जलवृष्टिसे (तस्य एव) उस कमठने ही अपने लिये (दुस्तरवारिकृत्यम्) तीक्ष्ण तलवारका काम अर्थात् व्रण कर लिया था।

भावार्थ–हे भगवन्! आप पर मूसलधार पानी वर्षाकर कमठके जीवने जो उपसर्ग किया था उससे आपका क्या विगड़ा? परंतु उसीने अपने लिये 'दुस्तरवारिकृत्यं' दुष्ट तलवारका कार्य अर्थात् घाव कर लिया–ऐसे कर्मोंका वन्ध किया जो तलवारके घावके समान दुःखदायी हुए थे। श्लोकमें 'दुस्तरवारि' शब्द दो वार आया है उनमेंसे पहलेका अर्थ कठिनाईसे तरनेयोग्य जल है और दूसरेका अर्थ दुष्ट तरवारि-तलवार है ॥ ३२ ॥

ध्वस्तोर्ध्वकेशविकृताकृतिमर्त्यमुण्ड-
प्रालम्बभृद्भयदवक्त्रविनिर्यदग्निः ।
प्रेतव्रजः प्रति भवन्तमपीरितो यः
सोऽस्याभवत्प्रतिभवं भवदुःखहेतुः ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थ–[तेन असुरेण] उस असुरके द्वारा (ध्वंस्तोर्ध्वकेश-विकृताकृतिमर्त्यमुण्डप्रालम्बभृद्) मुंड़े हुए तथा विकृत आकृतिवाले नर कपालोंकी मालाको धारण करनेवाला और (भयदवक्त्रविनिर्यदग्निः) जिसके भयङ्कर मुखसे अग्नि निकल रही है ऐसा (यः) जो (प्रेतव्रजः) पिशाचोंका समूह (भवन्तम् प्रति) आपके प्रति (ईरितः) प्रेरित किया गया था–दौड़ाया गया था (सः) वह (अस्य) उस असुरको (प्रतिभवम्) प्रत्येक भवमें (भवदुःखहेतुः) संसारके दुखोंका कारण (अभवत्) हुआ था।

भावार्थ–हे भगवन्! कमठके जीवने आपको तपस्यासे विचलित करनेके लिये जो पिशाच दौड़ाये थे उनसे आपका कुछ भी विगाड़ नहीं हुआ परंतु उस पिशाचको ही भारी कर्म-बंध हुआ जिससे उसे अनेक भवोंमें दुःख उठाने पडे॥ ३३॥

धन्यास्त एव भुवनाधिप ये त्रिसन्ध्य-
मारावयन्ति विधिवद्विधुतान्यकृत्याः।
भक्त्योल्लसत्पुलकपक्ष्मलदेहदेशाः।
पादद्वयं तव विभो भुवि जन्मभाजः॥ ३४॥

अन्वयार्थ–(भुवनाधिप) हे तीन लोकके नाथ! (ये) जो (जन्मभाजः) प्राणी, (विधुतान्यकृत्याः) जिन्होंने अन्य काम छोड़ दिये हैं और (भक्त्या) भक्तिसे (उल्लसत् पुलकपक्ष्मलदेहदेशाः) प्रकट हुए रोमांच्चोंसे जिनके शरीरका प्रत्येक अवयव व्याप्त है ऐसे [सन्त] होते हुए (विधिवत्) विधिपूर्वक (त्रिसन्ध्यम्) तीनों कालमें (तव) आपके (पादद्वयम् आराधयन्ति) चरणयुगलकी आराधना करते हैं। (विभो) हे स्वामिन्! (भुवि) संसारमें (ते एव) वे ही (धन्याः) धन्य हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! संसारमें उन्हींका जन्म सफल है जो भक्तिपूर्वक आपके चरणोंकी आराधना करते हैं ॥ ३४ ॥

अस्मिन्नपारभववारिनिधौ मुनीश !
मन्ये न मे श्रवणगोचरतां गतोऽसि ।
आकर्णिते तु तव गोत्रपवित्रमन्त्रे
किं वा विपद्विषधरी सविधं समेति ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ—(मुनीश) हे मुनीन्द्र ! (मन्ये) मैं समझता हूं कि आप (अस्मिन् अपारभववारिनिधौ) इस अपार संसाररूप समुद्रमें कभी भी (मे) मेरे (कर्णगोचरताम् न गतः असि) कानोंकी विषमताको प्राप्त नहीं हुआ हो। क्योंकि (तु) निश्चयसे (तव गोत्र-पवित्रमन्त्रे) आपके नामरूपी मन्त्रके (आकर्णिते 'सति') सुने जानेपर (विपद्विपधरी) विपत्तिरूपी नागन (किम् वा) क्या (सविधम्) समीप (समेति) है ? अर्थात् नहीं ।

भावाथ—हे प्रभो ! जो मैं संसारमें अनेक दुःख उठा रहा हूं उससे विश्वास होता है कि मैंने कभी भी आपका पवित्र नाम नहीं सुना ॥ ३५ ॥

जन्मान्तरेऽपि तव पादयुगं न देव !
मन्ये मया महितमीहितदानदक्षम् ।
तेनेह जन्मनि मुनीश ! पराभवानां
जातो निकेतनमहं मथिताशयनाम् ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (मन्ये) मैं मानता हूं कि मैंने (जन्मान्तरे अपि) दूसरे जन्ममें भी (ईहितदानदक्षम्) इच्छित फल देनेमें समर्थ (तव पादयुगम्) आपके चरण युगल (न महितम्)

नहीं पूजे (तेन) उसीसे (इहजन्मनि) इस भवमें (मुनीश) हे मुनीश! (अहम्) मैं (मथिताशयानाम्) हृदयभेदी (पराभवानाम्) तिरस्कारोंका (निकेतनम्) घर (जातः) हुआ हूं ।

भावार्थ-हे भगवन्! जो मैं तरह तरहके तिरस्कारोंका पात्र हो रहा हूं उससे स्पष्ट पता चलता है कि मैंने आपके चरणोंकी पूजा नहीं की। क्योंकि आपके चरणोंके पुजारियोंका कभी किसी जगह भी तिरस्कार नहीं होता ॥ ३६ ॥

नूनं न मोहतिमिरावृतलोचनेन

पूर्वं विभो सकृदपि प्रविलोकितोऽसि

मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः

प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः कथमन्यथैते ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थ-(विभो) हे स्वामिन्! (मोहतिमिरावृतलोचनेन) मोहरूपी अन्धकारसे ढ़के हुए हैं नेत्र जिसके ऐसे [मया] मेरे द्वारा आप (पूर्वम्) पहले कभी (सकृद् अपि) एकवार भी (नूनम्) निश्चयसे (प्रविलोकितः न असि) अच्छी तरह अवलोकित नहीं हुए हो-अर्थात् मैंने आपके दर्शन नहीं किये। (अन्यथा हि) नहीं तो (प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः) जिनकी प्रबन्ध गति बढ़ रही है ऐसे (ऐते) ये (मर्माविधः) मर्मभेदी (अनर्थाः) अनर्थ (माम्) मुझे (कथम्) क्यों (विधुरयन्ति) दुःखी करते ?

भावार्थ-भगवन्! मैंने मिथ्यात्वके उदयसे अन्धे होकर कभी भी आपके दर्शन नहीं किये। यदि दर्शन किये होते तो आज ये दुःख मुझे दुःखी कैसे करते? क्योंकि आपके दर्शन करनेवालोंको कभी कोई भी अनर्थ दुःख नहीं पहुंचा सकते ॥ ३७ ॥

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोपि
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या ।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव दुःखपात्रं
यस्मात्क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः॥३८॥

अन्वयार्थ—अथवा (जनबान्धव) हे जगद्बन्धो ! (मया) मेरे द्वारा आप (आकर्णितः अपि) आकर्णित भी हुए हैं (महितः अपि) पूजित भी हुए हैं और (निरीक्षितः अपि) अवलोकित भी हुए हैं अर्थात् मैंने आपका नाम भी सुना है, पूजा भी की है और दर्शन भी किये हैं, फिर भी (नूनम्) निश्चय है कि (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (चेतसि) चित्तमें (न विधृतः असि) धारण नहीं किये गये हो । (तेन) उसीसे (दुःखपात्रम् जातः अस्मि) दुःखोंका पात्र होरहा हूं (यस्मात्) क्योंकि (भावशून्याः) भाव रहित (क्रियाः) क्रियाएं (न प्रतिफलन्ति) सफल नहीं होतीं ।

भावार्थ—इससे पहिले तीन श्लोकोंमें कहा गया था कि हे भगवन् ! मैंने 'आपका नाम नहीं सुना' 'चरणोंकी पूजा नहीं की' और 'दर्शन नहीं किये' इसलिये मैं दुःख उठा रहा हूं । अब इस श्लोकमें पक्षान्तर रूपसे कहते हैं कि मैंने आपका नाम भी सुना, पूजा भी की; और दर्शन भी किये, फिर भी दुःख मेरा पिण्ड नहीं छोड़ते उसका कारण सिर्फ यही मालूम होता है कि मैंने भक्तिपूर्वक आपका ध्यान नहीं किया । केवल आडम्बर रूपसे ही उन कामोंको किया है न कि भावपूर्वक भी । यदि भावसे करता तो कभी दुःख नहीं उठाने पड़ते ॥ ३८ ॥

त्वं नाथ दुःखिजनवत्सल हे शरण्य
कारुण्यपुण्यवसते वशिनां वरेण्य ।

भक्त्या नते मयि महेश दयां विधाय
दुःखाङ्कुरोद्दलनतत्परतां विधेहि ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ–(नाथ) हे नाथ ! (दुखिजनवत्सल) हे दुखियों-पर प्रेम करनेवाले ! (हे शरण्य) हे शरणागत प्रतिपालक ! (कारुण्य-पुण्यवसते) हे दयाकी पवित्र भूमि ! (वशिनाम् वरेण्य !) हे जितेन्द्रियोंमें श्रेष्ठ ! और (महेश) हे महेश्वर ! (भक्त्या) भक्तिमें (नते मयि) नम्रीभूत मुझपर (दयाम् विधाय) दया करके (दुःखाङ्कुरोद्दलनतत्परताम्) मेरे दुःखाङ्कुरके नाश करनेमें तत्परता–तल्लीनता (विधेहि) कीजिये ।

भावार्थ–आप शरणागत प्रतिपालक है, दयालु हैं और समर्थ भी हैं । इसलिये आपसे विनम्र प्रार्थना करता हूं कि आप मेरे दुःखोंको दूर करनेके लिये तत्पर हूजिये ॥ ३९ ॥

निःसख्यसारशरणं शरणं शरण्य-
मासाद्य सादितरिपुप्रथितावदातम् ।
त्वत्पादपङ्कजमपि प्रणिधानवन्ध्यो
वन्ध्योऽस्मि तद्भुवनपावन हा हतोऽस्मि ॥४०॥

अन्वयार्थ–(भुवनपावन) हे संसारको पवित्र करनेवाले भगवन् ! (निःसख्यसारशरणम्) सखा, भाईबन्धु आदिसे रहित मनुष्योंके प्रधान आश्रय, (शरणम्) रक्षा करनेवाले (शरण्यम्) शरणागत प्रतिपालक और (सादितरिपुप्रथितावदातम्) कर्मशत्रु-ओंके नाशसे प्रसिद्ध है पराक्रम जिनका ऐसे (त्वत्पादपङ्कजम्) आपके चरणकमलोंको (आसाद्य अपि) पा कर भी (प्रणिधान-वन्ध्यः) उनके ध्यानसे रहित हुआ मैं (वन्ध्यः अस्मि) अभागा-फलहीन हूं और (तत्) उससे (हा) खेद है कि मैं (हतः अस्मि) नष्ट हुआ जा रहा हूं । अर्थात् कर्म मुझे दुःखी कर रहे हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके पवित्र और दयालु चरणोंको पाकर भी जो मैं उनका ध्यान नहीं कर रहा हूं उससे मेरा जन्म निष्फल जारहा है और मैं कर्मोंके द्वारा दुःखी किया जारहा हूं ॥४०॥

देवेन्द्रवन्द्य विदिताखिलवस्तुसार
संसारतारक विभो भुवनाधिनाथ ।
त्रायस्व देव करुणाहृद मां पुनीहि
सीदन्तमद्य भयदव्यसनाम्बुराशेः ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ—(देवेन्द्रवन्द्य हे इन्द्रोंकर) वन्दनीय ! (विदिताखिल वस्तुसार) हे सब पदार्थोंके रहस्यको जाननेवाले ! (संसारतारक) हे संसारसमुद्रसे तारनेवाले ! (विभो) हे प्रभो ! (भुवनाधिनाथ) हे तीन लोकके स्वामिन् ! (करुणाह्रद) हे दयाके सरोवर ! (देव) देव ! (अद्य) आज (सीदन्तम्) तड़पते हुए (माम्) मुझको (भयदव्यसनाम्बुराशेः) भयङ्कर दुःखोंके समुद्रसे (त्रायस्व) बचाओ, और (पुनीहि) पवित्र करो ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप हरएक तरहसे समर्थ हैं इसलिये आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप मुझे इस दुःख-समुद्रमें डूबनेसे बचाइये और हमेशाके लिये कर्म-मैलसे रहित कर दीजिये ॥ ४१ ॥

यद्यस्ति नाथ भवदङ्घ्रिसरोरुहाणां
भक्तेः फलं किमपि सन्ततसञ्चितायाः ।
तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्य भूयाः
स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे नाथ ! (त्वदेकशरणस्य, मे) केवल आप ही की है शरण जिसको ऐसे मुझे (सन्ततसञ्चितायाः) चिर-

कालसे सञ्चित–एकत्रित हुई (भवदंघ्रिसरोरुहाणाम्) आपके चरण-कमलोंकी (भक्तेः) भक्तिका (यदि) यदि (किमपि फलम् अस्ति) कुछ फल हो (तत्) तो उससे (शरण्य) हे शरणागत प्रतिपालक ! (त्वम् एव) आप ही (अत्र भुवने) इस लोकमें और (भवान्तरे अपि) परलोकमें भी (स्वामी) मेरे स्वामी (भूयाः) होवें ।

भावार्थ–हे भगवन् ! स्तुति कर मैं आपसे अन्य किसी फलकी चाह नहीं रखता । सिर्फ यह चाहता हूं कि आप ही मेरे हमेशा स्वामी रहें । अर्थात् जबतक मुझे मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ है तबतक आप ही मेरे स्वामी रहें । " तुम होहु भवभव स्वामि मेरे, मैं सदा सेवक रहूं " ॥ ४२ ॥

इत्थं समाहितधियो विधिवज्जिनेन्द्र
सान्द्रोल्लसत्पुलककञ्चुकिताङ्गभागाः ।
त्वद्बिम्बनिर्मलमुखाम्बुजबद्धलक्ष्या
ये संस्तवं तव विभो रचयन्ति भव्याः ॥४३॥

आर्या—

जननयनकुमुदचन्द्र–
प्रभास्वराः स्वर्गसम्पदो भुक्त्वा ।
ते विगलितमलनिचया
अचिरान्मोक्षं प्रपद्यन्ते ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ–(जिनेन्द्र विभो !) हे जिनेन्द्र देव ! (ये भव्याः) जो भव्यजन (इत्थम्) इस तरह (समाहितधियः) सावधान-बुद्धिसे युक्त हो (त्वद्बिम्बनिर्मलमुखाम्बुजबद्धलक्ष्याः) आपके निर्मल मुखकमलपर बांधा है लक्ष्य जिन्होंने ऐसे तथा (सान्द्रोल्ल-

सत्पुलककंचुकिताङ्गभागाः) सघन रूपसे उठे हुए रोमांचोंसे व्याप्त हैं शरीरके अवयव जिनके ऐसे [सन्तः] होते हुए (विधिवत्) विधि पूर्वक (तव) आपका (संस्तवम्) स्तवन (रचयन्ति) रचते हैं (ते) वे, (जननयनकुमुदचन्द्र[१]) हे प्राणियोंके नेत्र-रूपी कुमुदोंको विकसित करनेके लिये चन्द्रमाकी तरह शोभायमान देव ! (प्रभास्वराः) देदीप्यमान (स्वर्गसम्पदः) स्वर्गकी सम्पत्तियोंको (मुक्त्वा) भोगकर (विगलितमलनिचयाः ' सन्तः ') कर्मरूपी मल-समूहसे रहित हो (अचिरात्) शीघ्र ही (मोक्षम् प्रपद्यन्ते) मुक्तिको पाते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जो भक्तिसे गद्‌गद् चित्त हो आपकी स्तुति करते हैं वे स्वर्गके सुख भोग बहुत जल्दी आठ कर्मोंका नाश-कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ।

" स्वर्गनके सुख भोगकर, पावे मोक्ष निदान । "

इति कुमुदचन्द्राचार्यविरचितं कल्याणमन्दिरस्तोत्रम् समाप्तम् ।

१ कविने श्लेषसे ' कुमुदचन्द्र ' यह अपना नाम भी सूचित कर दिया है । कविका दूसरा नाम ' सिद्धसेन दिवाकर ' भी था ।

श्रीवादिराजमुनिप्रणीतम्—

एकीभावस्तोत्रम् ।

मन्दाक्रान्ताच्छन्द ।

एकीभावं गत इव मया यः स्वयं कर्मबन्धो
घोरं दुःखं भवभवगतो दुर्निवारः करोति ।
तस्याप्यस्य त्वयि जिनरवे भक्तिरुन्मुक्तये चे-
ज्जेतुं शक्यो भवति न तया कोऽपरस्तापहेतुः ॥१॥

अन्वयार्थ—(स्वयम) खुद (मया 'सह') मेरे साथ (एकीभावम् गतः इव) एकीभावको प्राप्त हुएकी तरह (भवभवगतः) प्रत्येक भवमें साथ चलनेवाला और (दुर्निवारः) कठिनाईसे दूर करनेयोग्य (यः) जो (कर्मबंधः) कर्मोंका बन्ध (घोरम्) भयङ्कर (दुःखम्) दुःख (करोति) करता है (जिनरवे) हे जिनसूर्य ! (त्वयि) आपके विषयमें की हुई (भक्तिः) भक्ति (चेत्) यदि (तस्य अपि अस्य उन्मुक्तये) उस भारी कर्मबन्धके भी छुटकाराके लिये है [तर्हि] तो (तया) उस भक्तिके द्वारा (अपरः कः तापहेतुः) दूसरा कौन सन्तापका कारण (जेतुम् शक्यः न भवति) जीता नहीं जासक्ता ?

भावार्थ—हे भगवन् ! जब आपकी भक्तिसे भव भवमें दुःख देनेवाला कर्मबन्ध भी दूर होजाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त होजाता है तब उससे दूसरे शारीरिक सन्तापके कारण दूर होजावें इसमें आश्चर्य ही क्या है ॥ १ ॥

ज्योतीरूपं दुरितनिवहध्वांतविध्वंसहेतुं
त्वामेवाहुर्जिनवर चिरं तत्त्वविद्याभियुक्ताः ।
चेतोवासे भवसि च मम स्फारमुद्भासमान-
स्तस्मिन्नंहः कथमिव तमो वस्तुतो वस्तुमीष्टे ॥२॥

अन्वयार्थ—(जिनवर) हे जिनेन्द्र ! (तत्त्वविद्याभियुक्ताः) तत्त्वविद्याके जाननेवाले ऋषिगण (चिरम्) बहुत समयसे (त्वाम् एव) आपको ही (ज्योतिस्वरूपम्) ज्योतिस्वरूप अतएव (दुरित-निवहध्वान्तविध्वंसहेतुम्) पाप-समूहरूप अन्धकारके विनाशक कारण (आहु) कहते हैं (च) और आप (मम) हमारे (चेतोवासे) मनरूपी मन्दिरमें (स्फारम्) अत्यन्त (उद्भासमानः) प्रकाशमान (भवसि) होरहेहो, फिर (तस्मिंन्) उस मन्दिरमें (वस्तुतः) वास्तवमें (अंहः तमः) पापरूप अन्धकार (वस्तुम्) निवास करनेके लिये (कथम्) कैसे (ईष्टे) समर्थ हो सक्ता है ? अर्थात् नहीं हो सक्ता।

भावार्थ—हे भगवन् ! जो आपका ध्यान करता है उसके सब पाप उस तरह नष्ट होजाते हैं जिस तरह कि दीपकके प्रकाशसे अन्धकार ॥ २ ॥

आनन्दाश्रुस्नपितवदनं गद्गदं चाभिजल्पन्
यश्चायेत त्वयि दृढमनाः स्तोत्रमंत्रैर्भवन्तम् ।
तस्याभ्यस्तादपि च सुचिरं देहवल्मीकमध्या-
न्निष्कास्यंते विविधविषमव्याधयः काद्रवेयाः ॥३॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (त्वयि) आपमें (दृढमनाः) स्थिर-चित्त हो (आनन्दाश्रुस्नपितवदनम् 'यथास्यात्तथा') हर्षके आंसुओंसे जिस तरह मुख भींग जावे उस तरह (च) और (गद्गदम्) गद्गद् वाणीसे (अभिजल्पन्) सामने पढ़ता हुआ (स्तोत्रमन्त्रैः) स्तोत्ररूपी

मन्त्रोंके द्वारा (भवन्तम् चायेत) आपकी पूजा करता है (तस्य) उसके (सुचिरम्) बहुत समयसे (अभ्यस्तात् अपि) परिचित भी (देहवल्मीकमध्यात्) शरीर रूप वांमीसे (विविधविपमव्याधयः काद्रवेयाः) तरह तरहकी भयङ्कर बीमारी रूप सांप (निस्कास्यन्ते) निकल जाते हैं ।

भावार्थ-हे भगवन् ! जो मनुष्य शुद्ध चित्तसे आपकी स्तुति करता है उसके समस्त रोग नष्ट होजाते हैं ॥ ३ ॥

प्रागेवेह त्रिदिवभवनादेष्यता भव्यपुण्या-
त्पृथ्वीचक्रं कनकमयतां देव निन्ये त्वयेदं ।
ध्यानद्वारं मम रुचिकरं स्वान्तगेहं प्रविष्ट-
स्तत्किं चित्रं जिन ! वपुरिदं यत्सुवर्णीकरोपि ॥४॥

अन्वयार्थ-(देव) हे देव ! (भव्यपुण्यात्) भव्य जीवोंके पुण्यके कारण (त्रिदिवभवनात्) स्वर्गलोकसे (इह) इस धरातलपर (एप्यता) आनेवाले (त्वया) आपके द्वारा (प्राग् एव) 'छह माह' पहलेसे ही जब (इदम् पृथ्वीचक्रम्) यह भूमण्डल (कनकमयताम्) सुवर्णरूपताको (निन्ये) प्राप्त कराया गया था अर्थात् सोनेका बना दिया गया था, तब फिर (जिन) हे जिनेन्द्र ! (ध्यानद्वारम्) ध्यानरूप दरवाजेसे सहित और (रुचिकरम्) प्रेम उत्पन्न करनेवाले (मम) हमारे (स्वान्तगेहम्) मनरूप घरमें (प्रविष्टः) प्रविष्ट हुए आप (इदम् वपुः) इस शरीरको (यत्) जो (सुवर्णीकरोपि) सुन्दर अथवा सुवर्णमय कर रहे हो (तत् किम् चित्रम्) वह क्या आश्चर्य है ? कुछ भी नहीं ।

भावार्थ-" यह कथा प्रसिद्ध है कि इस स्तोत्रके बनानेवाले वादिराज मुनिको कोढ़ होगया था, उनका सारा शरीर कोढ़से गल

रहा था । उन्होंने ज्यों ही एकीभाव स्तोत्र रचकर पढ़ना शुरू किया त्यों ही उनका कोढ़ कम होने लगा और जबतक उन्होंने इस श्लोकको बनाकर पूर्ण किया तबतक उनका सब कोढ़ दूर होगया और शरीर सोनेकी तरह चमकने लगा ।" इसी बातको मुनिराजने लक्ष्यकर कहा है कि जब आप स्वर्गलोकसे भूलोकपर आनेके लिये छह माह बाकी थे तभी आपके प्रभावसे यह समस्त पृथिवी सोने जैसी सुन्दर होगई थी । फिर अब तो आप हमारे मनमन्दिरमें प्रविष्ट होचुके हैं । इसलिये यदि यह शरीर सुन्दर अथवा सुवर्णका होजावे तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है । सुवर्ण शब्दके दो अर्थ हैं—एक सुन्दर और दूसरा सोना ॥ ४ ॥

लोकस्यैकस्त्वमसि भगवन्निर्निमित्तेन बन्धु—
स्त्वय्येवासौ सकलविषया शक्तिरप्रत्यनीका ।
भक्तिस्फीतां चिरमधिवसन्मामिकां चित्तशय्यां
मय्युत्पन्नं कथमिव ततः क्लेशयूथं सहेथाः ॥५॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे भगवन् ! (त्वम्) आप (लोकस्य) लोकके (एकः) अद्वितीय (निर्निमित्तेन) अकारण (बन्धुः) भाई-हित करनेवाले (असि) हैं और (सकलविषया) हरएक पदार्थको विषय करनेवाली (अप्रत्यनीका) बाधक कारण रहित (शक्तिः) शक्ति भी (त्वयि एव 'विद्यते') आपमें ही मौजूद है (ततः) फिर (चिरम्) चिरकालसे (भक्तिस्फीताम्) भक्तिसे विस्तृत (मामिकाम् चित्तशय्याम् अधिवसन्) मेरी मन रूप शय्यापर निवास करते हुए आप (मयि उत्पन्नम्) मुझमें पैदा हुए (दुःखयूथम्) दुःखोंके समूहको (कथम् इव) किसतरह (सहेथाः) सहन करेंगे ?

भावार्थ—भगवन्! आप भाईकी तरह स्वार्थ रहित होकर संसारका कल्याण करते हैं और आपमें कल्याण करनेकी शक्ति भी मौजूद है। इतना सब कुछ होनेपर भी मैं बहुत समयसे आपका ध्यान कर रहा हूं। फिर भी आप हमारे दुःखोंको देखते हुए भी नष्ट नहीं करेंगे? अवश्य करेंगे ॥ ५ ॥

जन्माटव्यां कथमपि मया देव दीर्घं भ्रमित्वा
प्राप्तैवेयं तव नयकथा स्फारपीयूषवापी।
तस्या मध्ये हिमकरहिमव्यूहशीते नितान्तं
निर्मग्नं मां न जहति कथं दुःखदावोपतापाः ॥६॥

अन्वयार्थ-(देव) हे देव! (जन्माटव्याम्) संसाररूपी वनमें (दीर्घम्) बहुत समय तक (भ्रमित्वा) घूमकर (मया) मैंने (तव) आपकी (इयम्) यह (नयकथा-स्फारपीयूपवापी) नयकथारूपी अमृतकी बावड़ी (कथम् अपि) किसी तरह (प्राप्ता एव) प्राप्त ही कर ली है। अब (हिमकरहिमव्यूहशीते) चन्द्रमा और बर्फके समूहके समान शीतल (तस्याः मध्ये) उस बावड़ीके बीचमें (नितान्तम्) अतिशय रूपसे (निर्मग्नम्) डूबे हुए (माम्) मुझको (दुःखदावोपतापाः) दुःखरूपी दावानलकी गर्मी (कथम् न जहति) क्या नहीं छोड़ रही है? अर्थात् छोड़ रही है।

भावार्थ—हे भगवन्! जो मनुष्य आपके नयवादको अच्छी तरह समझकर उसके अनुसार प्रवृत्ति करता है उसके सब दुःख उस तरह नष्ट होजाते हैं जिस तरह कि बावड़ीके ठण्डे जलमें डूबे हुए मनुष्यको दावानल-दुंवारकी गर्मी ॥ ६ ॥

पादन्यासादपि च पुनतो यात्रया ते त्रिलोकीं
हेमाभासो भवति सुरभिः श्रीनिवासश्च पद्मः।

सर्वाङ्गेण स्पृशति भगवंस्त्वय्यशेषं मनो मे
श्रेयः किं तत्स्वयमहरहर्यन्न मामभ्युपैति ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ-(यात्रया) विहारके द्वारा (त्रिलोकीम्) तीनों लोकोंको (पुनतः) पवित्र करनेवाले (ते) आपके (पादन्यासात् अपि च) चरण निक्षेप-पांव रखने मात्रसे जब (पद्मः) कमल (हेमाभासः) सोने जैसा कांतिमान् (सुरभिः) सुगन्धित (च) और (श्रीनिवासः) लक्ष्मी-शोभाका निवास (भवति) होजाता है तब (भगवन्) हे भगवन् ! (त्वयि मे अशेषम् मनः सर्वाङ्गेण स्पृशति 'सति') जब कि आप हमारे सम्पूर्ण मनको सब अङ्गोंसे स्पृष्ट कर रहे हैं-छू रहे हैं (तत् किम् श्रेयः) वह कौनसा कल्याण है ? (यत्) जो (अहरहः) प्रत्येक दिन (स्वयम्) अपने आप (माम् न अभ्युपैति) मेरे सामने न आता हो ।

भावार्थ-कवि लोग कमलको 'लक्ष्मीका घर है' ऐसा वर्णन करते हैं । कमल सुगन्धित भी होता है और कोई कोई पीला कमल सुवर्णके समान सुन्दर भी । जब केवली भगवान्का विहार होता है तब देवलोग उनके चरणोंके नीचे कमल बना देते हैं । यहां कविका यह विश्वास है कि कमलको जो सोने जैसा सुन्दर रूप, सुगन्धि और लक्ष्मीका घर बननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है सो वह आपके चरणोंके निक्षेप मात्रसे ही हुआ है । भगवन् ! जब आपके चरण-निक्षेपमें इतनी शक्ति है तब आप तो हमारे हृदय-कमलको सब तरफसे छूरहे हैं । ऐसी हालतमें मुझे तरह तरहके कल्याण प्राप्त हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है । श्लोकका सार अर्थ यह है कि जो आपका ध्यान करता है उसे सब कल्याण प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

पश्यन्तं त्वद्वचनममृतं भक्तिपात्र्या पिबन्तं
कर्मारण्यात्पुरुषमसमानन्दधाम प्रविष्टम् ।
त्वां दुर्वारस्मरमदहरं त्वत्प्रसादैकभूमिं-
क्रूराकाराः कथमिव रुजाकण्टका निर्लुठन्ति ॥८॥

अन्वयार्थ—(दुर्वारस्मरमदहरं त्वाम् पश्यन्तम्) जो किसीके द्वारा नहीं रोका जासका ऐसे कामके मदको हरण करनेवाले आपके दर्शन करनेवाले, और (भक्तिपात्र्या) भक्तिरूपी कटोरीके द्वारा (त्वद्वचनम् अमृतम् पिबन्तम्) आपके वचनरूपी अमृतके पीनेवाले अतएव (कर्मारण्यात्) कर्मरूपी वनसे [निःसृत्य] निकल कर (असमानन्दधाम प्रविष्टम्) अनुपम आनंदके घरमें प्रविष्ट हुए (त्वत्प्रसादैकभूमिम्) आपकी प्रसन्नताके एक आधार स्वरूप (पुरुषम्) पुरुषको (क्रूराकाराः) भयङ्कर आकृतिवाले (रुजाकण्टकाः) रोगरूपी कांटे (कथम् इव निर्लुठन्ति) किस तरह दुःखी कर सकते हैं ? अर्थात् किसी भी तरह नहीं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जो आपका दर्शन करते हैं वे और अमृतके समान सुख देनेवाले आपके उपदेशको सुनते हैं उनके सब कर्म नष्ट होजाते हैं, वे सुखमय मोक्षस्थानको पालेते हैं और उन्हें रोगरूपी कांटे नहीं सताते । ठीक भी है—जो कटीली झाड़ियोंसे भरे हुए जङ्गलमें प्याससे पीड़ित हो जहां तहां घूमता है उसे ही कांटे लगते हैं, पर जो ठण्डा पानी पीता हुआ अच्छे घरमें निवास करता है उसे कांटे क्यों लगेंगे ॥ ८ ॥

पाषाणात्मा तदितरसमः केवलं रत्नमूर्ति-
र्मानस्तम्भो भवति च परस्तादृशो रत्नवर्गः ।
दृष्टिप्राप्तो हरति स कथं मानरोगं नराणां
प्रत्यासत्तिर्यदि न भवतस्तस्य तच्छक्तिहेतुः ॥९॥

अन्वयार्थ—(पाषाणात्मा) पत्थरका बना हुआ (मानस्तम्भः) मानस्तम्भ (तदितरसमः) अन्य पत्थरके स्तम्भके समान हैं (केवलम्) सिर्फ (रत्नमूर्त्तिः) रत्नमय (भवति) होता है जो (परः च रत्नवर्गः) अन्य रत्नोंका समूह भी (तादृशः 'भवति') उसकी तरह रत्नमय होता है। फिर (स) वह (दृष्टिप्राप्तः 'सन्') दृष्टिगोचर होते ही (नराणाम्) मनुष्योंके (मानरोगम्) अहङ्काररूपी रोगको (कथम् हरति) कैसे हर सकता है? (यदि) यदि (तस्य) उसके (तच्छक्तिहेतुः) उस शक्तिकी कारणभूत (भवतः) आपकी (प्रत्यासत्तिः) समीपता (न स्यात्) नहीं होती तो।

भावार्थ–समवशरणकी चारों दिशाओंमें चार रत्नमयी स्तम्भ होते हैं उन्हें मानस्तम्भ कहते हैं। उन्हें देखते ही दर्शकोंका अभिमान नष्ट होजाता है। आचार्य कहते हैं कि मानस्तम्भ अन्य स्तम्भोंकी तरह ही पत्थरका बना हुआ है। यदि उसमें यह विशेषता मानी जावे कि वह रत्नोंका बना होता है तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि अन्य रत्नोंकी राशि भी तो रत्नोंसे बनी रहती है। फिर वह निगाहके सामने आते ही मनुष्योंके मान क्यों हर लेता है? भगवन्! उसका कारण सिर्फ आपकी समीपता ही है। आपके समीपमें रह कर ही वह मानहरण रूप विशाल कार्यको कर लेता है। लोकमें भी देखा जाता है कि महापुरुषोंके साथ होनेसे लघु मनुष्य भी भारी काम कर लेते हैं ॥९॥

हृद्यः प्राप्तो मरुदपि भवन्मूर्तिशैलोपवाही
　　सद्यः पुंसां निरवधिरुजाधूलिबन्धं धुनोति।
ध्यानाहूतो हृदयकमलं यस्य तु त्वं प्रविष्ट-
　　स्तस्याशक्यः क इह भुवने देव लोकोपकारः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(भवन्मूर्तिशैलोपवाही) आपके शरीररूपी पहाड़के समीप वहनेवाली (हृद्यः) मनोहर (मरुत् अपि) हवा भी (प्राप्तः सन्) प्राप्त हो (सद्यः) शीघ्र ही (पुंसाम्) पुरुषोंके (निरवधि-रुजा धूलिबन्धम्) अपरिमित रोगरूपी धूलिके सम्बन्धको (धुनोति) दूर कर देती है । (तु) फिर (ध्यानाहूतः) ध्यान द्वारा बुलाये गये (त्वम्) आप (यस्य) जिसके (हृदयकमलम् प्रविष्टः) मन रूप कमलमें प्रविष्ट हुए हो (देव) हे देव ! (तस्य) उस मनुष्यको (इह भुवने) इस लोकमें (कः) कौन (लोकोपकारः) लौकिक कल्याण (अशक्यः 'अस्ति,) प्राप्त नहीं हो सकता ? अर्थात् सभी प्राप्त होसक्ते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जब आपके शरीरके पास वहनेवाली हवा भी मनुष्योंके रोगोंको दूर कर देती है तब आप साक्षात् जिसके हृदयमें मौजूद हैं उसके सब रोग नष्ट होकर उसे तरह तरहके कल्याण प्राप्त हों इसमें क्या आश्चर्य है ? ॥ १० ॥

जानासि त्वं मम भवभवे यच्च यादृक्च दुःखं
जातं यस्य स्मरणमपि मे शस्त्रवन्निष्पिनष्टि ।
त्वं सर्वेशः सकृप इति च त्वामुपेतोऽस्मि भक्त्या
यत्कर्तव्यं तदिह विषये देव एव प्रमाणम् ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिसका (स्मरणम्) स्मरण भी (मे) मुझे (शस्त्रवत्) हथियारकी तरह (निष्पिनष्टि) पीड़ित करता है ऐसा (भवभवे) प्रत्येक भवमें (मम) मुझे (यत् च) जो (च) और (यादृक्) जैसा (दुःखम् जातम्) दुःख प्राप्त हुआ है [तत्] उसे (त्वम् जानासि) आप जानते हैं । तथा (त्वम्) आप (सर्वेशः) सबके स्वामी (च) और (सकृपः) दया सहित [असि] हैं (इति

भक्त्या त्वाम् उपेतः अस्मि) इसलिये भक्तिसे आपके पास आया हूं, अब (इह विषये) इस विषयमें (यत् कर्तव्यम्) जो करना चाहिये (तत् देवः एव प्रमाणम्) उसमें आप ही प्रमाण हैं अर्थात् जैसा आप चाहें वैसा करें ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप सर्वज्ञ हैं इसलिये हमारे भवभवके दुःखोंको जानते हैं, आप सबके ईश्वर हैं इसलिये आपमें हमारे दुःख दूर करनेकी सामर्थ्य है और आप दया सहित हैं, इसलिये आपको हमारे दुःखोंपर दया भी आती है, यह सब विचारकर मैं आपकी शरणमें आया हूं । शरणमें आये हुए सेवकके प्रति स्वामीका क्या कर्तव्य है आप ही सोच लीजिये अर्थात् हमारे दुःखोंको दूर कर दीजिये ॥ ११ ॥

प्रापदैवं तव नुतिपदैर्जीवकेनोपदिष्टैः
पापाचारी मरणसमये सारमेयोपि सौख्यं ।
कः संदेहो यदुपलभते वासवश्रीप्रभुत्वं
जल्पञ्जाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कारचक्रं ॥१२॥

अन्वयार्थ—(पापाचारी) बुरे आचरण करनेवाला (सारमेयः अपि) कुत्ता भी जब (मरणसमये) मृत्युके समय (जीवकेन) जीवन्धरकुमारके द्वारा (उपदिष्टैः) उपदेश दिये गये (तवनुतिपदैः) आपके नमस्कार मन्त्रके पदोंसे (दैवम्) देव सम्बन्धी (सौख्यम्) सुखको (प्रापत्) प्राप्त हुआ था तब (अमलैः जाप्यैः मणिभिः) निर्मल जपनेयोग्य मणियोंके द्वारा (त्वन्नमस्कारचक्रम्) आपके नमस्कार मन्त्रके समूहको (जल्पन्) पढ़ता हुआ पुरुष (यत्) जो (वासवश्रीप्रभुत्वम्) इन्द्रकी लक्ष्मीके आधिपत्यको (उपलभते) प्राप्त होता है ('अत्र' कः सन्देहः) इसमें क्या सन्देह है ? अर्थात् कुछ नहीं ।

भावार्थ—जीवन्धर भरतक्षेत्रके हेमाङ्गद देशकी राजपुरी नगरीके राजा सत्यन्धरके पुत्र थे। इनके उत्पन्न होनेके दिन ही प्रधान मन्त्री काष्ठाङ्गारने कपटसे राजा सत्यन्धरको मार डाला था और इनकी माता विजया दण्डकवनमें तपस्वियोंके आश्रममें चली गई थी इसलिये इनका पालनपोषण राजपुरी नगरीके श्रेष्ठ वैश्य गन्धोत्कटके घर हुआ था। वह इन्हें अपना निजका पुत्र समझकर बड़े लाड़-प्यारसे इनका पालन करता था। जब ये बड़े हुए तब इनका गरुड़वेग विद्याधरकी पुत्री गन्धर्वदत्ताके साथ विवाह होगया। एक दिन ये अपने मित्रोंके साथ वसन्तऋतुकी शोभा देखनेके लिये वनमें जा रहे थे कि वहां अचानक इनकी दृष्टि एक कराहते हुए कुत्तेपर पड़ी। उस कुत्तेको कुछ ब्राह्मणोंने साकल्य—हवन सामग्रीको जूठा कर देनेके अपराधमें बुरीतरह पीटकर घायल कर दिया था। जीवन्धरकुमारके लिये जब कुत्तेके जीवित रखनेकी आशा न रही तब उन्होंने उसे णमोकार मन्त्र सुनाना प्रारंभ किया। कुत्तेकी होनहार अच्छी थी इसलिये वह मन्त्रके प्रभावसे मरकर चन्द्रोदय पर्वतपर यक्ष जातिके देवोंका इन्द्र हुआ उसका नाम सुदर्शन था। इनकी पूरी कथा, क्षत्र-चूड़ामणि, जीवन्धर चम्पू, गद्य चिन्तामणि या उत्तरपुराणके अन्तर्गत जीवक चरितमें जानना चाहिये। बहुत ही रोचक और शिक्षाप्रद है।

कविका कहना है कि आपकी स्तुतिके थोड़ेसे अक्षरोंका मृत्यु-समय श्रवण करने मात्रसे जब महापापी कुत्ता भी देव होसकता है तब जो निरन्तर भावपूर्वक आपका स्तवन करेगा, मणियोंकी मालासे आपके नामकी जाप करेगा, वह यदि स्वर्गमें इन्द्र होजावे तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है? ॥ १२ ॥

शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वयनीचा
भक्तिर्नो चेदनवधिसुखावञ्चिका कुञ्चिकेयं ।

शक्योद्घाटं भवति हि कथं मुक्तिकामस्य पुंसो-
मुक्तिद्वारं परिदृढमहामोहमुद्राकवाटम् ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ-(शुद्धे ज्ञाने) शुद्ध ज्ञान और (शुचिनि चरित्रे) पवित्र चरित्रके (सति अपि) मौजूद रहते हुए भी (चेत्) यदि (त्वयि) आपके विषयमें (अनवधिसुखावञ्चिका) असीम सुख प्राप्त करानेवाली (कुञ्चिका) कुंजी स्वरूप (इयम्) यह (अनीचा) उत्कृष्ट (भक्तिः) भक्ति (नो 'स्यात्') नहीं हो [तर्हि] तो (हि) निश्चयसे (मुक्तिकामस्य) मोक्षके अभिलाषी (पुंसः) पुरुषके (परिदृढमहामोहमुद्राकवाटम्) जिसपर मजबूत मोहरूपी तालेसे वन्द किवाड़ लगे हुए हैं ऐसा (मुक्तिद्वारम्) मोक्ष-महलका दरवाजा (कथम्) किस प्रकार (शक्योद्घाटं भवति) खोलनेके योग्य है ? अर्थात् नहीं है ।

भावार्थ—भगवन्! आपकी भक्ति ही तो सम्यग्दर्शन है जो कि अनन्त सुखोंका कारण है और मुक्तिमन्दिरके द्वार पर लगे हुए मिथ्यात्व रूपी जालेको खोलनेके लिये कुंजी-चावीकी तरह है। जब-तक यह भक्ति रूप सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता तब तक ज्ञान और चारित्रके रहते हुए भी मोक्ष प्राप्त नहीं किया जासक्ता ॥ १३ ॥

प्रच्छन्नः खल्वयमघमयैरन्धकारैः समन्ता-
त्पन्था मुक्तेः स्थपुटितपदः क्लेशगर्तैरगाधैः ।
तत्कस्तेन व्रजति सुखतो देव तत्त्वावभासी
यद्यग्रेऽग्रे न भवति भवद्भारतीरत्नदीपः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ-(खलु) निश्चयसे (अयम्) यह (मुक्तेः पन्थाः) मुक्तिका मार्ग (समन्तात्) सब ओरसे (अघमयैः अन्धकारैः) पाप-रूपी अन्धकारके द्वारा (प्रच्छन्नः) ढका हुआ और (अगाधैः)

गहरे (क्लेशगर्तैः) दुःख रूपी गड्ढोंसे (स्थपुटितपदः) ऊँचे नीचे स्थानवाला [अस्ति] है। (देव) हे देव! (तत्त्वावभासी) जीव अजीव आदि तत्वोंको प्रकाशित करनेवाला (भवद्भारतीरत्नदीपः) आपकी दिव्यध्वनि रूपी रत्नोंका दीपक (यदि) यदि (अग्रे अग्रे) आगे आगे (न भवति) नहीं हो (तत्) तो (तेन) उस मार्गसे (कः) कौन पुरुष (सुखत) सुखसे (व्रजति) गमन कर सक्ता है? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ—जिस मार्गमें खूब अँधेरा हो और गहरे गड्ढोंसे जहां ऊंची नीच जमीन हो उस मार्गमें जैसे कोई दीपककी सहायताके विना सुखपूर्वक नहीं जासक्ता इसीतरह मुक्तिके दुर्गम मार्गमें भी आपकी दिव्य ध्वनि रूपी दीपककी सहायताके विना कोई सुखसे नहीं जासक्ता। श्लोकका सार यह है कि मोक्षकी प्राप्ति आपके उपदेशसे ही होसक्ती है ॥ १४ ॥

आत्मज्योतिर्निधिरनवधिर्द्रष्टुरानन्दहेतुः
कर्मक्षोणीपटलपिहितो योऽनवाप्यः परेषां।
हस्ते कुर्वन्त्यनतिचिरतस्तं भवद्भक्तिभाजः
स्तोत्रैर्बन्धप्रकृतिपरुषोद्दामधात्रीखनित्रैः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (आत्मज्योतिर्निधिः) आत्मज्ञानरूपी खजाना (अनवधिः) सीमारहित है (द्रष्टुः आनन्दहेतुः) देखनेवालेके आनन्दका कारण है, (कर्मक्षोणीपटलपिहितः) कर्मरूपी पृथ्वीके पटलसे ढका हुआ है और (परेषाम्) अन्य-मिथ्यादृष्टियोंको (अनवाप्यः) दुर्लभ है (तम्) उसे (भवद्भक्तिभाजः) आपकी भक्तिके भागी पुरुष (बन्धप्रकृतिपरुषोद्दामधात्रीखनित्रैः) प्रकृति-प्रदेश-स्थिति और अनुरागरुप बन्धके भेदोंसे अत्यन्त कठोर पृथ्वीको

खोदनेके लिये कुदाली स्वरूप (स्तोत्रैः) स्तोत्रोंके द्वारा (अनतिचिरतः) वहुत जल्दी (हस्तेकुर्वन्ति) हाथमें कर लेते हैं—पालेते हैं।

भावार्थ—जैसे जमीनमें गढ़ा हुआ धन कुदालीके विना प्राप्त नहीं हो सकता, उसी तरह कर्मरूपी परदेके भीतर छुपा हुआ आत्मज्ञान आपके स्तोत्रोंके विना प्राप्त नहीं होसकता। जव आपकी स्तुतिसे कर्मोंका पटल क्षीण होगा, तभी आत्मज्ञान प्राप्त हो सकता है, अन्य प्रकारसे नहीं ॥ १५ ॥

प्रत्युत्पन्ना नयहिमगिरेरायता चामृताब्धेर्या
देव त्वत्पदकमलयोः संगता भक्तिगङ्गा।
चेतस्तस्यां मम रुचिवशादाप्लुतं क्षालितांहः
कल्माषं यद्भवति किमियं देव संदेहभूमिः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव! (नयहिमगिरेः) नयरूप हिमालयसे (प्रत्युत्पन्ना) पैदा हुई (च) और (अमृताब्धेः) मोक्षरूपी समुद्र तक (आयता) लम्वी (या) जो (भक्तिगङ्गा) भक्तिरूपी गङ्गा (त्वत्पदकमलयोः) आपके चरणकमलोंमें (संगता) प्राप्त हुई है (तस्याम्) उसमें (रुचिवशात्) श्रद्धाके वशसे (आप्लुतम्) स्नान किया हुआ (मम) मेरा (चेतः) मन (यत्) जो (क्षालितांहः कल्मापम्) धुल गये हैं पापरूप मैल जिसके ऐसा (भवति) हो रहा है (देव) हे देव! (इयम्) यह (किम्) क्या (सन्देहभूमि) संशयका स्थान है? अर्थात् नहीं।

भावार्थ—गङ्गा नदी हिमालय पर्वतसे प्रकट हुई है और समुद्र-पर्यन्त लम्वी है तथा अन्य मतके पुराणोंमें प्रचलित है कि वह विष्णुके चरणोंमें भी आकर मिली थी। गङ्गा नदीमें स्नान करनेसे मनुष्य शुद्ध होजाता है—उसके सव पाप धुल जाते हैं यह भी अन्य मतमें प्रसिद्ध है। कविने इस अन्य मत प्रसिद्ध वातको यहां रूपका-

लङ्कारसे वर्णन किया है। भगवन्! मेरी जो आपमें भक्ति पैदा हुई है वह आपके सुन्दर अनेकांत रूप नयको देखकर ही हुई है और वह भक्ति तबतक रहेगी जबतक अमृत–मोक्षकी प्राप्ति न हो जावेगी तथा वह भक्ति हमेशा आपके चरण-कमलोंमें रहती है। इस तरह नयरूप हिमालयसे निकली और मोक्षरूप समुद्रतक लम्बी तथा आपके चरणोंमें आश्रय पानेवाली भक्तिरूप गङ्गा नदीमें नहानेवाला मेरा मन सब पापरूप मैलको धोकर यदि शुद्ध होजावे तो इसमें क्या सन्देह है? श्लोकका सार यह है कि चित्तकी शुद्धि आपकी भक्तिसे ही होती है॥ १६॥

प्रादुर्भूतस्थिरपदसुख! त्वामनुध्यायतो मे
त्वय्येवाहं स इति मतिरुत्पद्यते निर्विकल्पा।
मिथ्यैवेयं तदपि तनुते तृप्तिमभ्रेषरूपां
दोषात्मानोऽप्यभिमतफलास्त्वत्प्रसादाद्भवन्ति॥१७॥

अन्वयार्थ–(प्रादुर्भूतस्थिरपदसुख!) जिनके स्थायी सुख प्रकट हुआ है ऐसे हे जिनेन्द्रदेव! (त्वाम् अनुध्यायतः मे) आपका निरन्तर ध्यान करते हुए मेरी, (त्वयि) आपमें (अहम् सः एव) मैं वही हूं–जो आप हैं (इति) ऐसी (निर्विकल्पा) विकल्परहित (मतिः) बुद्धि (उत्पद्यते) उत्पन्न होती है। ('यद्यपि' इयम् मिथ्या एव) यद्यपि यह बुद्धि झूठ ही है (तदपि) तथापि (अभ्रेषरूपाम्) अविनश्वर (तृप्तिम्) तृप्तिको (तनुते) विस्तृत कर देती है। ठीक है कि (त्वत्प्रसादात्) आपके प्रसादसे (दोषात्मानः अपि) सदोष आत्माएं भी (अभिमतफलाः) इच्छित फलको प्राप्त (भवन्ति) होजाती हैं।

भावार्थ—भगवन्! जब मैं आपका ध्यान करता हूं तब मैं अपने आपको भूल जाता हूं और यह समझने लगता हूं कि आप जिसरूप हैं उसी रूप मैं भी हूं (द्रव्य दृष्टिसे) आपमें और मुझमें कुछ भी अन्तर नहीं है। यद्यपि मेरी यह समझ (पर्यायदृष्टिसे) झूठ है। क्योंकि आप अविनाशी सुखको प्राप्त हैं और मैं संसारमें जन्म मरणके दुख उठा रहा हूं। फिर भी वह मुझे आत्माके स्वभावका बोधकर अविनाशी सन्तोष प्राप्त करा देती है। अर्थात् मुझे यह जानकर सन्तोष होता है कि मैं भी आपके ही समान अनंत-सुखरूप हूं। भले ही वर्तमानमें दुःख उठा रहा हूं, किन्तु कारण मिलनेपर एक दिन आप जैसा होसकता हूं। आपके ध्यानके पहले मुझे अपने असली स्वरूपका पता नहीं था, इसलिये निरन्तर दुखी रहता था। प्रभो! मेरी वह सदोष बुद्धि भी मुझे जो इच्छित फल देसकी यह आपका ही प्रसाद है ॥ १७ ॥

मिथ्यावादं मलमपनुदन्सप्तभङ्गीतरङ्गै-
र्वागम्भोधिर्भुवनमखिलं देव! पर्येति यस्ते।
तस्यावृत्तिं सपदि विबुधाश्चेतसैवाचलेन
व्यातन्वन्तः सुचिरममृतासेवया तृप्नुवन्ति ॥१८॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव! (ते) आपका (यः) जो (वागम्भोधिः) दिव्यध्वनिरूपी समुद्र (सप्तभङ्गीतरङ्गैः) सप्तभङ्ग-रूप लहरोंके द्वारा (मिथ्यावादम् मलम्) मिथ्यावादरूपी मलको (अपनुदन्) हटाता हुआ (अखिलम् भुवनम् पर्येति) समस्त संसारको वेढ़ रहा हैं—वेष्टित कर रहा है (विबुधाः) देव अथवा बुद्धिमान् (चेतसा एव अचलेन) मनरूप मन्दरगिरिके द्वारा (तस्य) उस वचन-समुद्रकी (आवृत्तिम्) मन्थन क्रिया अथवा बारबार अभ्यासको

(व्यातन्वन्तः) विस्तृत करते हुए (सपदि) शीघ्र ही (अमृतासेवया) पीयूषपान अथवा मोक्ष प्राप्तिसे (सुचिरम्) हमेशाके लिये (तृप्नुवन्ति) सन्तुष्ट होजाते हैं।

भावार्थ—लोकमें प्रसिद्ध है कि एकवार देवोंने मन्दरगिरिको मथानी और शेषनागको मन्थननेत्र-कढ़निया बनाकर समुद्रको मथा था। उससे चौदह रत्न निकले थे। उनमें अमृत भी एक रत्न था। देवलोग उस अमृतको पीकर हमेशाके लिये सन्तृप्त होगये थे। कविने इस श्लोकमें विबुध, आवृत्ति, और अमृत शब्दके श्लेष तथा वचन-समुद्र और चित्त-अचलके रूपकसे इसी प्रसिद्ध बातको निरूपण किया है। विबुधके दो अर्थ हैं—देव और विद्वान्। आवृत्तिके दो अर्थ हैं—मन्थन और वारवार अभ्यास। इसीतरह अमृत शब्दके भी दो अर्थ हैं—सुधा और मोक्ष। हे भगवन्! जिसतरह देव लोग मन्दरगिरिके द्वारा समुद्रको मथकर अमृतपान करनेसे सन्तुष्ट होगये थे, उसीतरह विद्वान् भी अपने मनसे आपके उपदेशका वारवार अभ्यास कर मुक्त हो हमेशाके लिये सन्तुष्ट होजाते हैं—अनन्त सुख सहित होजाते हैं ॥ १८ ॥

आहार्येभ्यः स्पृहयति परं यः स्वभावादहृद्यः
शस्त्रग्राही भवति सततं वैरिणा यश्च शक्यः।
सर्वाङ्गेषु त्वमसि सुभगस्त्वं न शक्यः परेषां
तत्किं भूषावसनकुसुमैः किं च शस्त्रैरुदस्त्रैः ॥१९॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (स्वभावात्) स्वभावसे (अहृद्यः) असुन्दर (भवति) होता है [सः एव] वही (परम्) अतिशय रूपसे (आहार्येभ्यः स्पृहयति) आभूषण वगैरहको चाहता है। (च) और (यः) जो (वैरिणा) शत्रुके द्वारा (शक्यः भवति) शक्य होता है—

जीता जासकता है व [सः एव] वही (सततम्) हमेशा (शस्त्रग्राही) हथियार धारण करनेवाला (भवति) होता है। (त्वम्) आप (सर्वाङ्गेषु) सब अङ्गोंमें (सुभगः असि) सुन्दर हो और (न त्वम् परेषाम् शक्यः) न आप शत्रुओंसे जीते जासकने योग्य हो (तत् 'भवतः') इसलिये आपको (भूषावसनकुसुमैः) आभूषण वस्त्र तथा फूलोंसे (किम्) क्या प्रयोजन? (च) और (उदस्त्रैः शस्त्रैः किम्) अस्त्र शस्त्रोंसे क्या प्रयोजन है?

भावार्थ—संसारके अन्य देवी देवता, तरह तरहके आभूषण और कपड़े वगैरह पहिनते हैं तथा कई प्रकारके तीक्ष्ण त्रिशूल, गदा, कृपाण आदि हथियार धारण करते हैं उसका कारण है कि वे स्वभावसे कुरूप हैं और उन्हें शत्रुसे भय बना रहता है। पर आपका जन्मसे ही अतिशय रूप होता है। आप अत्यन्त सुन्दर हैं और अनन्त बलसे सहित तथा द्वेष आदिसे रहित होनेके कारण आपको शत्रुओंका डर नहीं है इसलिये आप न गहना पहनते हैं न कपड़े धारण करते हैं और न हथियार ही लिये हैं। श्लोकका सार यह है कि आप वीतराग—रागद्वेषसे रहित हैं ॥ १९ ॥

इन्द्रः सेवां तव सुकुरुतां किं तया श्लाघनं ते
तस्यैवेयं भवलयकरी श्लाघ्यतामातनोति ।
त्वं निस्तारी जननजलधेः सिद्धिकान्तापतिस्त्वं
त्वं लोकानां प्रभुरिति तव श्लाघ्यते स्तोत्रमित्थं ॥२०॥

अन्वयार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र (तव) आपकी (सेवाम्) सेवाको (सुकुरुताम्) अच्छी तरह करे (तया) उससे (ते) आपकी (किम्) क्या (श्लाघनम्) प्रशंसा है? (इयम्) यह सेवा तो (तस्य एव) उसी इन्द्रकी (भवलयकरीम्) संसारका नाश कर-

नेवाली (श्लाघ्यताम्) प्रशंसाको (आतनोति) विस्तृत करती है (त्वम्) आप (जननजलधः) संसार-समुद्रसे (निस्तारी) तारनेवाले हैं (त्वम्) आप (सिद्धिकान्तापतिः) मुक्तिरूप स्त्रीके पति हैं और (त्वम) आप (लोकानाम्) तीनों लोकोंके (प्रभुः) निग्रह-अनुग्रहमें समर्थ हैं (इत्थम्) इस प्रकार (इति) यह (तव) आपकी (स्तोत्रम्) स्तुति (श्लाघ्यते) प्रशंसनीय है ।

भावार्थ-भगवन् ! कई मनुष्य आपकी स्तुति करते हैं कि 'आप इन्द्रोंके द्वारा सेवनीय हैं' सो उनकी यह स्तुति ठीक नहीं है । क्योंकि तुच्छ जीव तो महापुरुषोंकी सेवा करते ही हैं उसका वर्णन करनेसे महापुरुषोंकी प्रशंसा नहीं होती । वल्कि सेवा करनेवालोंकी प्रशंसा होती है कि वे किसी महापुरुषके सेवक हैं । हां ! इस प्रकार आपका स्तवन किया जासकता है कि आप जीवोंको संसार-समुद्रसे तारनेवाले हैं, मुक्ति स्त्रीके स्वामी है और तीनों लोकोंके प्रभु हैं ॥ २० ॥

वृत्तिर्वाचामपरसदृशी न त्वमन्येन तुल्यः
स्तुत्युद्गाराः कथमिव ततस्त्वय्यमी नः क्रमन्ते ।
मैवं भूवंस्तदपि भगवन्भक्तिपीयूषपुष्टा-
स्ते भव्यानामभिमतफलाः पारिजाता भवन्ति ॥२१॥

अन्वयार्थ-(भगवन्) हे नाथ ! (वाचाम् वृत्तिः अपरसदृशी 'न') आपके वचनोंकी प्रवृत्ति दूसरेके समान नहीं है और (न त्वम् अन्येन तुल्यः) न आप भी अन्यके सदृश हैं (ततः) उस कारणसे (नः) हमारे (अमी) ये (स्तुत्युद्गाराः) स्तुति वाक्य (त्वयि) आपके विषयमें (कथम् इव) किस तरह (क्रमन्ते) संगत होसकते हैं । अथवा (एवम् मा भूवन्) ऐसा न हो-हमारे स्तुतिके उद्गार आपके

विषयमें संगत न भी हों (तदपि) तो भी (भक्तिपीयूषपुष्टाः) भक्तिरूप अमृतसे पुष्ट हुए (ते) वे स्तुतिके उद्गार (भव्यानाम्) भव्य जीवोंको (अभिमतफलाः) इच्छित फल देनेवाले (पारिजाताः) कल्पवृक्ष (भवन्ति) होते हैं।

भावार्थ–भगवन्! जब आपके वचन अनुपम हैं और आप स्वयं भी उपमारहित हैं तब 'आपके वचन दीपकके समान हैं, अथवा आप अमुक पदार्थके समान हैं' इस प्रकारकी स्तुति आपके विषयमें कैसे लागू होसकती है। परंतु भक्तिमार्गमें इस बातका विचार नहीं किया जाता। भक्तिके कारण भव्योंके वे मिथ्या उद्गार भी कल्पवृक्षकी तरह मनोवाञ्छित फल देते हैं॥ २१॥

कोपावेशो न तव न तव क्वापि देव प्रसादो
व्याप्तं चेतस्तव हि परमोपेक्षयैवानपेक्षम्।
आज्ञावश्यं तदपि भुवनं सन्निधिर्वैरहारी
क्वैवंभूतं भुवनतिलक! प्राभवं त्वत्परेषु॥ २२॥

अन्वयार्थ–(देव) हे देव! यद्यपि (तव) आपका (क्वापि) किसी पर (न कोपावेशः) न क्रोधमय भाव होता है और (न क्वापि तव प्रसादः) न किसी पर आपकी प्रसन्नता ही होती है। (हि) निश्चयसे (तव) आपका (चेतः) चित्त (अनपेक्षम् इव) निरपेक्षकी तरह (परमोपेक्षया) अत्यन्त उपेक्षासे (व्याप्तम्) व्याप्त है। (तदपि) तो भी (भुवनम्) संसार (आज्ञावश्यम्) आपकी आज्ञाके आधीन है और (सन्निधिः) आपकी निकटता (वैरहारी) शत्रुताको दूर करनेवाली है (भुवनतिलक) हे संसारके तिलक! (एवंभूतम्) ऐसा (प्राभवम्) स्वामित्व (त्वत्परेषु) आपसे भिन्न (क) किसमें है? अर्थात् किसीमें नहीं।

भावार्थ—भगवन्! आप राग द्वेष दोनोंसे रहित हैं, आपका चित्त निरकुंश निरपेक्ष है, फिर भी संसार आपकी आज्ञामें चलता है और आपकी समीपता सबके वैरको दूर कर देती है। आप जैसा यह विलक्षण प्रभुत्व संसारके दूसरे प्रभुओंमें नहीं पाया जाता। आप अनोखे स्वामी हो ॥ २२ ॥

देव स्तोतुं त्रिदिवगणिकामण्डलीगीतकीर्तिं
तोतूर्ति त्वां सकलविषयज्ञानमूर्तिं जनो यः।
तस्य क्षेमं न पदमटतो जातु जाहूर्ति पन्था-
स्तत्त्वग्रन्थस्मरणविषये नैष मोमोर्ति मर्त्यः ॥२३॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव! (त्रिदिवगणिकामण्डलीगीत-कीर्तिम्) स्वर्गकी अप्सराओंके समूहद्वारा जिनकी कीर्ति गाई गई है ऐसे तथा (सकलविषयज्ञानमूर्तिम्) सब पदार्थोंको विषय करनेवाले ज्ञानकी मूर्तिस्वरूप (त्वाम्) आपको (स्तोतुम्) स्तुति करनेके लिये (यः जनः) जो मनुष्य (तोतूर्ति) शीघ्रता करता है (क्षेमम् पदम् अटतः) कल्याणकारक पद अर्थात् मोक्षके प्रति गमन करनेवाले (तस्य) उस पुरुषका (पन्थाः) मार्ग (जातु) कभी (न जाहूर्ति) कुटिल नहीं होता। और (न एष मर्त्यः) न यह मनुष्य (तत्त्वग्रन्थस्मरणविषये) सिद्धान्त ग्रन्थोंके स्मरणके विषयमें (मोमोर्ति) मूर्च्छाको प्राप्त होता है।

भावार्थ—हे भगवन्! जो आपकी स्तुति करनेके लिये तत्पर होता है उसकी स्वर्ग-मोक्षयात्रामें कोई बाधा नहीं आती। और वह तात्त्विक ग्रन्थोंका महान् पण्डित बन जाता है ॥ २३ ॥

चित्ते कुर्वन्निरवधिसुखज्ञानदृग्वीर्यरूपं
देव त्वां यः समयनियमादादरेण स्तवीति।

श्रेयोमार्गं स खलु सुकृती तावता पूरयित्वा
कल्याणानां भवति विषयः पञ्चधापञ्चितानां॥ २४॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (यः) जो मनुष्य (निरवधि-सुखज्ञानदृग्वीर्यरूपम्) अनन्त सुख, ज्ञान, दर्शन और वीर्य स्वरूप (त्वाम) आपको (चित्ते कुर्वन्) मनमें धारण करता हुआ (समय-नियमात्) समयके नियमसे अर्थात् निश्चित समय तक (आदरेण) आदरपूर्वक (स्तवीति) स्तुति करता है (खलु) निश्चयसे (सः) वह (सुकृती) पुण्यात्मा (तावता) उस स्तवन मात्रसे (श्रेयोमार्गम्) मोक्षमार्गको (पूरयित्वा) पूर्ण कर (पञ्चधापञ्चितानाम्) गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण इन पांच भेदोंसे विस्तृत (कल्याणानाम्) कल्याणोंका (विषयः) विषय ('भवति') होता है।

भावार्थ—जो मनुष्य अनन्त चतुष्टयसे शोभायमान आपकी हृदयसे स्तुति करता है वह तीर्थङ्कर होकर गर्भ आदि पांच कल्याणोंका पात्र होता है ॥ २४ ॥

शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

भक्तिप्रह्वमहेन्द्रपूजितपद ! त्वत्कीर्तने न क्षमाः
सूक्ष्मज्ञानदृशोऽपि संयमभृतः के हन्त मन्दा वयम् ।
अस्माभिः स्तवनच्छलेन तु परस्त्वय्यादरस्तन्यते
स्वात्माधीनसुखैषिणां स खलु नः कल्याणकल्पद्रुमः ॥२५॥

अन्वयार्थ—(भक्तिप्रह्वमहेन्द्रपूजितपद !) भक्तिसे नम्रीभूत इन्द्रोंके द्वारा जिनके चरण पूजित हुए हैं ऐसे हे जिनेन्द्रदेव ! (सूक्ष्मज्ञानदृशः) सूक्ष्मज्ञान ही जिनके नेत्र हैं ऐसे (संयमभृतः अपि) महर्षि भी (त्वत्कीर्तने) आपके गुणगानमें जब (क्षमाः न 'सन्ति') समर्थ नहीं हैं तब (हन्त) खेद है कि (वयम् मन्दाः के) हम मूर्ख कौन हैं ? (तु) किन्तु (स्तवनच्छलेन) स्तुतिके छलसे

(अस्माभिः) हमारे द्वारा (त्वयि) आपमें (परः) अधिक (आदरः) सन्मान (तन्यते) विस्तृत किया जाता है। (खलु) निश्चयसे (सः) वह सन्मान ही (स्वात्माधीनसुखैषिणाम्) निज आत्माके आश्रित सुखके चाहनेवाले (नः) हम लोगोंके लिये (कल्याण-कल्पद्रुमः) कल्याणकारी कल्पवृक्ष [अस्ति] है।

भावार्थ—हे भगवन्! जब बड़े बड़े मुनि भी आपकी स्तुति नहीं कर सकते तब हम मूर्ख कैसे कर सकेंगे? हम तो सिर्फ भक्तिसे आपमें आदर प्रदर्शित करते हैं और हमारा यह निश्चय भी है कि वह आदर ही हम लोगोंके लिये आत्मिक सुख देनेके लिये कल्प-वृक्ष होगा॥ २५॥

स्वागता छन्द।

वादिराजमनु शाब्दिकलोको, वादिराजमनु तार्किकसिंहः।
वादिराजमनु काव्यकृतस्ते, वादिराजमनु भव्यसहायः॥२६॥

अन्वयार्थ—(शाब्दिकलोकः) वैयाकरण-व्याकरण शास्त्रके वेत्ता (वादिराजम् अनु) वादिराजसे हीन हैं (तार्किकसिंहः) श्रेष्ठ नैयायिक (वादिराजम् अनु) वादिराजसे हीन हैं (ते काव्यकृतः) प्रसिद्ध कवि लोग (वादिराजम् अनु) वादिराजसे हीन हैं और (भव्यसहायः) सज्जनगण भी (वादिराजम् अनु) वादिराजसे हीन हैं।

भावार्थ—एकीभाव स्तोत्रके रचयिता वादिराज आचार्य सबसे श्रेष्ठ वैयाकरण, नैयायिक, कवि और सहृदय पुरुष थे॥ २६॥

इति वादिराजमुनिप्रणीतमेकीभावस्तोत्रम् समाप्तम्।

१—इस श्लोकमें कविकी आत्म-प्रशंसा है। मालूम होता है यह श्लोक कविकी विद्वत्तापर मुग्ध हो, किसी अन्य महाशयने रचकर स्तोत्रके नीचे लिख दिया है और वह बादमें स्तोत्रमें ही शामिल कर लिया गया है।

महाकवि धनञ्जयप्रणीतम्-

विषापहारस्तोत्रम् ।

उपजाति छन्द ।

स्वात्मस्थितः सर्वगतः समस्तव्यापारवेदी विनिवृत्तसंगः ।
प्रवृद्धकालोप्यजरो वरेण्यः पायादपायात्पुरुषः पुराणः ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(स्वात्मस्थितः अपि सर्वगतः) आत्मस्वरूपमें स्थित होकर भी सर्वव्यापक, (समस्तव्यापारवेदी अपि) सब व्यापारोंके जानकार होकर भी (विनिवृत्तसङ्गः) परिग्रहसे रहित, (प्रवृद्धकालः अपि अजरः) दीर्घ आयुवाले होकर भी बुढ़ापेसे रहित तथा (वरेण्यः) श्रेष्ठ (पुराणः पुरुषः) प्राचीन पुरुष—भगवान् वृषभनाथ [नः] हम सबको (अपायात्) विनाशसे (पायात्) बचावें— रक्षित करें।

भावार्थ—श्लोकमें विरोधाभास अलङ्कार है। इस अलङ्कारमें सुनते समय विरोध मालूम होता है पर बादमें अर्थका विचार करनेसे उसका परिहार होजाता है। देखिये—जो अपने स्वरूपमें स्थित होगा वह सर्वव्यापक कैसे होगा ? यह विरोध है, पर उसका परिहार यह है कि पुराण पुरुष आत्मप्रदेशोंकी अपेक्षा अपने स्वरूपमें ही स्थित हैं पर उनका ज्ञान सब जगहके पदार्थोंको जानता है। इसलिये ज्ञानकी अपेक्षा सर्वगत हैं। जो सम्पूर्ण व्यापारोंका जाननेवाला है वह परिग्रह रहित कैसे होसकता है ? यह विरोध है। उसका परिहार यह है कि आप सर्व पदार्थोंके स्वाभाविक अथवा वैभाविक परिवर्तनोंको जानते हुये भी कर्मोंके सम्बन्धसे रहित

हैं। इसी तरह दीर्घायुसे सहित होकर भी बुढ़ापेसे रहित हैं यह विरोध है। उसका परिहार इस तरह है कि महापुरुषोंके शरीरमें वृद्धावस्थाका विकार नहीं होता अथवा शुद्ध आत्म-स्वरूपकी अपेक्षा वे कभी भी जीर्ण नहीं होते। इस तरह श्लोकमें विघ्न-बाधाओंसे अपनी रक्षा करनेके लिये पुराण-पुरुषसे प्रार्थना की गई है ॥ १ ॥

परैरचिन्त्यं युगभारमेकः स्तोतुं वहन्योगिभिरप्यशक्यः ।
स्तुत्योऽद्य मेऽसौ वृषभो न भानोः किमप्रवेशे विशति प्रदीपः ॥२॥

अन्वयार्थ—(परैः) दूसरोंके द्वारा (अचिन्त्यम्) चिंतवन करनेके अयोग्य (युगभारम्) कर्मयुगके भारको (एकः) अकेले ही (वहन्) धारण किये हुए तथा (योगिभिः अपि) मुनियोंके द्वारा भी (स्तोतुम् अशक्यः) जिनकी स्तुति नहीं की जासकती है ऐसे (असौ वृषभः) वे भगवान् वृषभनाथ! (अद्य) आज (मे स्तुत्यः) मेरे द्वारा स्तुति करनेके योग्य हैं अर्थात् आज मैं उनकी स्तुति कर रहा हूं। सो ठीक है (भानोः) सूर्यका (अप्रवेशे) प्रवेश नहीं होनेपर (किम्) क्या (प्रदीपः) दीपक (न विशति) प्रवेश नहीं करता? अर्थात् करता है।

भावार्थ—भगवन्! यहां जब भोगभूमिके बाद कर्मभूमिका समय प्रारम्भ हुआ था उस समयकी सब व्यवस्था आप अकेले ही कर गये थे। इसतरह आपकी विलक्षण शक्तिको देखकर योगी भी कह उठे थे कि मैं आपकी स्तुति नहीं कर सकता। पर मैं आज आपकी स्तुति कर रहा हूं, इसका कारण मेरा अभिमान नहीं है, पर मैं सोचता हूं कि जिस गुफामें सूर्यका प्रवेश नहीं होपाता उस गुफामें भी दीपक प्रवेश कर लेता है। यह ठीक है कि दीपक सूर्यकी

भांति गुफाके सब पदार्थोंको प्रकाशित नहीं कर सकता, उसी तरह मैं भी योगियोंकी तरह आपकी पूर्ण स्तुति नहीं कर सकूंगा, फिर भी मुझमें जितनी सामर्थ्य है उससे बाज़ क्यों आऊँ ? ॥ २ ॥

तत्याज शक्रः शकनाभिमानं नाहं त्यजामि स्तवनानुबंधम् ।
स्वल्पेन बोधेन ततोऽधिकार्थं वातायनेनेव निरूपयामि ॥३॥

अन्वयार्थ-(शक्रः) इन्द्रने (शकनाभिमानम्) स्तुति कर सकनेकी शक्तिका अभिमान (तत्याज) छोड़ दिया था । किन्तु (अहम्) मैं (स्तवनानुबन्धम्) स्तुतिके उद्योगको (न त्यजामि) नहीं छोड़ रहा हूं । मैं (वातायनेन इव) झरोखेकी तरह (स्वल्पेन बोधेन) थोड़ेसे ज्ञानके द्वारा (ततः) झरोखे और ज्ञानसे (अधिकार्थम्) अधिक अर्थको (निरूपयामि) निरूपित कर रहा हूं ।

भावार्थ—जिस तरह छोटेसे झरोखेमें झांक कर उससे कई गुणी वस्तुओंका वर्णन किया जाता है उसी तरह मैं भी अपने अल्प ज्ञानसे जानकर आपके गुणोंका वर्णन कर रहा हूं । मुझे अपनी इस अनोखी सूझ पर हर्ष और विश्वास दोनों हैं । इस लिये मैं इन्द्रकी तरह अपनी शक्तिको नहीं छिपाता ॥ ३ ॥

त्वं विश्वदृश्वा सकलैरदृश्यो विद्वानशेषं निखिलैरवेद्यः ।
वक्तुं कियान्कीदृश इत्यशक्यः स्तुतिस्ततोऽशक्तिकथा तवास्तु ॥४

अन्वयार्थ-(त्वम्) आप (विश्वदृश्वा 'अपि') सबको देखनेवाले हैं किन्तु (सकलैः) सबके द्वारा (अदृश्यः) नहीं देखे जाते, आप (अशेषम विद्वान्) सबको जानते हैं पर (निखिलैः अवेद्यः) सबके द्वारा नहीं जाने जाते । आप (कियान् कीदृशः) कितने और कैसे हैं (इति) यह भी (वक्तुम् अशक्यः) नहीं कहा

जासकता (तत) उससे (तव स्तुतिः) आपकी स्तुति (अशक्ति-कथा) मेरी असामर्थ्यकी कहानी ही (अस्तु) हो ।

भावार्थ—आप सबको देखते हैं पर आपको देखनेकी किसीमें शक्ति नहीं है। आप सबको जानते हैं पर आपको जाननेकी किसीमें शक्ति नहीं है। आप कैसे और कितने परिमाणवाले हैं यह भी कहनेकी किसीमें शक्ति नहीं है। इसतरह आपकी स्तुति मानों अपनी अशक्तिकी चर्चा करना ही है। इससे पहलेके श्लोकमें कविने कहा था कि आपकी स्तुतिसे इन्द्रने अभिमान छोड़ दिया था पर मैं नहीं छोडूंगा अर्थात् मुझमें स्तुति करनेकी शक्ति है पर जब वे स्तुति करना प्रारंभ करते हैं और प्रारंभमें ही उन्हें कहना पड़ता है कि सबमें आपको देखनेकी, जाननेकी अथवा कहनेकी शक्ति नहीं है जिसका तात्पर्य-अर्थ यह होता है कि मुझमें भी उसकी शक्ति नहीं है, तब उन्हें भी अन्तमें स्वीकार करना पड़ता है कि इन्द्रने जो शक्तिका अभिमान छोड़ा था वह ठीक ही किया था और मेरे द्वारा की गई यह स्तुति भी मेरी अशक्तिकी कथा ही हो ॥ ४ ॥

व्यापीडितं बालमिवात्मदोषैरुल्लाघतां लोकमवापिपस्त्वं ।
हिताहितान्वेषणमांद्यभाजः सर्वस्य जंतोरसि बालवैद्यः ॥५॥

अन्वयार्थ—(त्वम्) आपने (बालम् इव) बालककी तरह (आत्मदोषैः) अपने द्वारा किये गये अपराधोंसे (व्यापीडितम्) अत्यन्त पीड़ित (लोकम्) संसारी मनुष्योंको (उल्लाघताम्) नीरोगता (अवापिपः) प्राप्त कराई है। निश्चयसे आप (हिताहितान्वेषणमान्द्यभाजः) भले बुरेके विचार करनेमें मूर्खताको प्राप्त हुये (सर्वस्य जन्तोः) सब प्राणियोंके (बालवैद्यः) बालवैद्य हैं।

भावार्थ—जिस तरह बालकोंकी चिकित्सा करनेवाला वैद्य, अपनी भूलमें पैदा किये हुए वात पित्त कफ आदि दोषोंसे पीड़ित बालकोंके अच्छे बुरेका ज्ञान करा कर उन्हें नीरोग बना देता है और अपने 'बाल वैद्य' इस नामको सार्थक बना लेता है उसी तरह आप भी हित और अहितके निर्णय करनेमें असमर्थ बाल अर्थात् अज्ञानी जीवोंको हित अहितका बोध कराकर संसारके दुःखोंसे छुड़ाकर स्वस्थ बना देते हैं। इस तरह आपका भी 'बाल वैद्य' अर्थात् 'अज्ञानियोंके वैद्य' यह नाम सार्थक सिद्ध होता है ॥ ५ ॥

दाता न हर्ता दिवसं विवस्वानद्यश्व इत्यच्युतदर्शिताशः ।
सव्याजमेवं गमयत्यशक्तः क्षणेन दत्सेऽभिमतं नताय ॥६॥

अन्वयार्थ—(अच्युत) हे उदारता आदि गुणोंसे सहित जिनेन्द्रदेव ! (विवस्वान्) सूर्य (न दाता 'न' हर्ता) न देता है न अपहरण करता है सिर्फ (अद्य श्वः) आजकल (इति) इस तरह (दर्शिताशः) आशा [दूसरे पक्षमें दिशाको] दिखाता हुआ (अशक्तः सन्) असमर्थ हो (एवम्) ऐसे ही—विना लिये दिये ही (सव्याजम्) कपट सहित (दिवसम्) दिनको (गमयति) विता देता है, किन्तु आप (नताय) नम्र मनुष्यके लिये (क्षणेन) क्षणभरमें (अभिमतम्) इच्छित वस्तु (दत्से) दे देते हैं ।

भावार्थ—लोग सूर्योदय होते ही हाथ जोड़ शिर झुकाकर 'नमोनारायण' कहते हुए सूर्यको नमस्कार करते हैं और उनसे इच्छित वरदान मांगते हैं, पर वह 'आज दूंगा—कल दूंगा' इस तरह आशा दिखाता हुआ दिन विता देता है, किसीको कुछ देता नहीं है—असमर्थ जो ठहरा । पर आप नम्र मनुष्यको उसकी इच्छित वस्तु क्षणभरमें दे देते हैं । इस तरह आप सूर्यसे बहुत बढ़कर हैं ॥ ६ ॥

उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि त्वयि स्वभावाद्विमुखश्च दुःखं ।
सदावदातद्युतिरेकरूपस्तयोस्त्वमादर्श इवावभासि ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ–(त्वयि सुमुखः) आपके अनुकूल चलनेवाला पुरुष (भक्त्या) भक्तिसे (सुखानि) सुखोंको (उपैति) प्राप्त होता है (च) और (विमुख) प्रतिकूल चलनेवाला पुरुष (स्वभावात्) स्वभावसे ही (दुःखम 'उपैति') दुःख पाता है । किन्तु (त्वम्) आप (तयो) उन दोनोंके आगे (आदर्शः इव) दर्पणकी तरह (सदा) हमेशा (अवदातद्युतिः) उज्वल कान्तियुक्त तथा (एकरूप) एक सदृश (अवभासि) शोभायमान रहते हैं ।

भावार्थ–जिस प्रकार दर्पणके सामने मुँह करनेवाला पुरुष दर्पणमें अपना सुन्दर चेहरा देखकर सुखी होता है और पीठ देकर खड़ा हुआ पुरुष अपना चेहरा न देख सकनेसे दुःखी होता है–उनके सुखदुःखमें दर्पण कारण नहीं है । दर्पण तो उन दोनोंके लिये हमेशा एकरूप ही है, पर वे दो मनुष्य अपनी अनुकूल और प्रतिकूल क्रियासे अपने आप सुखीदुःखी होते हैं, उसीप्रकार जो मनुष्य आपके विषयमें सुमुख होता है अर्थात् आपको पूज्य दृष्टिसे देखता है–आपकी भक्ति करता है वह शुभ कर्मोंका वन्ध होने, अथवा अशुभ कर्मोंकी निर्जरा होनेसे स्वयं सुखी होता है और जो आपके विषयमें विमुख रहता है अर्थात् आपको पूज्य नहीं समझता और न आपकी भक्ति ही करता है वह अशुभ कर्मोंका वन्ध होनेसे दुःख पाता है । उनके सुख दुःखमें आप कारण नहीं हैं । आप तो हमेशा दोनोंके लिये रागद्वेष रहित और चैतन्य चमत्कार मय एकरूप ही हैं ॥ ७ ॥

अगाधताऽब्धेः स यतः पयोधिर्मेरोश्च तुङ्गा प्रकृतिः स यत्र।
द्यावापृथिव्योः पृथुता तथैव व्याप त्वदीया भुवनान्तराणि ॥८॥

अन्वयार्थ-(अब्धे) समुद्रकी (अगाधता) गहराई [तत्र अस्ति] वहां है (यतः सः पयोधिः) जहां वह समुद्र है। (मेरोः) सुमेरु पर्वतकी (तुङ्गा प्रकृति) उन्नत प्रकृति=ऊंचाई (तत्र) वहां है (यत्र सः) जहां वह सुमेरु पर्वत है (च) और (द्यावापृथिव्योः) आकाश-पृथिवीकी (पृथुता) विशालता भी (तथैव) उसी प्रकार है अर्थात् जहां आकाश और पृथिवी है वहीं उनकी विशालता है। परंतु (त्वदीया 'अगाधता, तुङ्गा प्रकृतिः पृथुता च') आपकी गहराई, उन्नत प्रकृत्ति और हृदयकी विशालताने (भुवनान्तराणि) तीनों लोकोंके मध्यभागको (व्याप) व्याप्त कर लिया है।

भावार्थ-अगाधता शब्दके दो अर्थ हैं-समुद्र वगैरहमें पानीकी गहराई और मनुष्यहृदयमें रहनेवाले धैर्यकी अधिकता। तुङ्गा प्रकृति शब्द भी द्वयर्थक है। पहाड़ वगैरहकी ऊंचाई और मनमें दीनताका न होना। इसी तरह पृथुता, विशालताके भी दो अर्थ हैं। जमीन आकाश वगैरहके प्रदेशोंका फैलाव और मनमें सबको अपनानेके भाव, सबके प्रति प्रेममयी भावना।

भगवन्! समुद्रकी गम्भीरता समुद्रके ही पास है, मेरु पर्वतकी ऊँचाई मेरुके ही पास है और आकाश पृथिवीकी विस्तारता भी उन्हींके पास है परंतु आपकी अगाधता=धैर्यवृत्ति, ऊँचाई=अदैन्यवृत्ति और पृथुता=उदारवृत्ति सारे संसारमें फैली हुई है। इसलिये जो कहा करते हैं कि आपकी गम्भीरता समुद्रके समान है, उन्नत प्रकृति मेरुकी तरह है और विशालता आकाश पृथिवीके सदृश है वे भूल करते हैं ॥ ८ ॥

तथानवस्था परमार्थतत्त्वं त्वया न गीतः पुनरागमश्च ।
दृष्टं विहाय त्वमदृष्टमैषीर्विरुद्धवृत्तोऽपि समञ्जसस्त्वं ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(अनवस्था) परिवर्तन शीलता (तव) आपका (परमार्थतत्त्वम्) वास्तविक सिद्धान्त है (च) और (त्वया) आपके द्वारा (पुनरागमः न गीतः) मोक्षसे वापिस आनेका उपदेश दिया नहीं गया है तथा (त्वम्) आप (दृष्टम्) प्रत्यक्ष इस लोक-संबंधी सुख (विहाय) छोड़कर (अदृष्टम्) परलोक संबंधी सुखको (ऐषीः) चाहते हैं, इसतरह (त्वम्) आप (विरुद्धवृत्तः अपि) विपरीत प्रवृत्तियुक्त होनेपर भी (समञ्जसः) उचिततासे युक्त हैं ।

भावार्थ—जब आपका सिद्धान्त है कि सब पदार्थ परिवर्तन-शील हैं—सभीमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य होता है तब सिद्धोंमें भी परिवर्तन अवश्य होगा । किन्तु आप उनके पुनरागमनको—संसारको वापिस आनेको स्वीकार नहीं करते, यह विरुद्ध बात है । जो मनुष्य प्रत्यक्ष सामने रखी हुई वस्तुको छोड़कर अप्रत्यक्ष—परभवमें प्राप्त होनेवाली वस्तुके पीछे पड़ता है, लोकमें वह अच्छा नहीं कहलाता, परन्तु आप वर्तमानके सुखोंको छोड़कर भविष्यतके सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे उद्योग करते हैं यह भी विरुद्ध बात है । पर जब इन दोनों बातोंका तत्व दृष्टिसे विचार करते हैं तब वे दोनों ठीक मालूम होने लगती हैं जिससे आपकी प्रवृत्ति उचित ही रही आती है । यद्यपि पर्यायदृष्टिसे सब पदार्थोंमें परिवर्तन होता है—सिद्धोंमें भी होता है तथापि द्रव्य-दृष्टिसे सब पदार्थ अपरिवर्तनरूप भी हैं । संसारमें आनेका कारण कर्मबन्ध है और वह कर्मबन्ध सिद्ध अवस्थामें जडमूलसे नष्ट होजाता है इसलिये सिद्ध जीव फिर कभी लौटकर संसारमें वापिस नहीं आते, यह आपका सिद्धांत उचित ही है । इसी-

तरह आपने वर्तमानके क्षणभंगुर–इन्द्रियजनित सुखोंसे मोह छोड़-कर सच्चे आत्म–सुखको प्राप्त करनेका उपदेश दिया है। वह सच्चा सुख तवतक प्राप्त नहीं होसकता जवतक कि यह प्राणी इन्द्रियजनित सुखमें लगा रहता है। इसलिये प्रत्यक्षके अल्प सुखको छोड़कर वीतरागता प्राप्त करनेसे परभवमें सच्चा सुख प्राप्त होता हो उसे कौन प्राप्त न करना चाहेगा? इस श्लोकमें विरोधाभास अलङ्कार है ॥९॥

स्मरः सुदग्धो भवतैव तस्मिन्नुद्धूलितात्मा यदि नाम शम्भुः।
अशेत वृन्दोपहतोऽपि विष्णुः किं गृह्यते येन भवानजागः ॥१०॥

अन्वयार्थ–(स्मरः) काम (भवता एव) आपके द्वारा ही (सुदग्धः) अच्छी तरह भस्म किया गया है (यदि नाम शम्भुः) यदि आप कहें कि महादेवने भी तो भस्म किया था तो वह कहना ठीक नहीं क्योंकि वादमें वह (तस्मिन्) उस कामके विषयमें (उद्धूलितात्मा) कलङ्कित होगया था। और (विष्णु अपि) विष्णुने भी (वृन्दोपहतः 'सन्') वृन्दा–लक्ष्मी नामक स्त्रीसे प्रेरित हो (अशेत) शयन किया था (किम् गृह्यते) यह वात क्यों ग्रहण की गई? (येन) जिस कारणसे (भवान् अजाग) आप जागृत रहे। अर्थात् कामनिद्रामें अचेत नहीं हुए।

भावार्थ–हे भगवन्! जगद्विजयी कामको आपने ही भस्म किया था। लोग जो कहा करते हैं कि महादेवने भस्म किया था वह ठीक नहीं, क्योंकि वादमें महादेवने पार्वतीकी तपस्यासे प्रसन्न हो उसके साथ विवाह कर लिया था और काममें इतने आसक्त हुए कि अपना आधा शरीर स्त्रीरूप कर लिया था। इसी तरह विष्णुने भी वृन्दा–लक्ष्मीके वशीभूत हो तरह तरहकी कामचेष्टाएं की थीं, पर आप हमेशा ही आत्मव्रतमें लीन रहे तथा कामको इस-तरह पछाड़ा कि वह फिर पनप नहीं सका ॥ १० ॥

स नीरजाः स्यादपरोऽघवान्वा तद्दोषकीर्त्यैव न ते गुणित्वं ।
स्वतोऽम्बुराशेर्महिमा न देव! स्तोकापवादेन जलाशयस्य ॥११॥

अन्वयार्थ-(वा) अथवा (स) वह ब्रह्मादि देवोंका समूह (नीरजाः) पापरहित (स्यात्) हो और (अपरः) दूसरा देव (अघवान् 'स्यात्') पापसहित हो. (तद्दोषकीर्त्या एव) उनके दोषोंके वर्णन करने मात्रसे ही (ते) आपकी (गुणित्वम् न) गुणसहितता नहीं है। (देव) हे देव! (अम्बुराशेः) समुद्रकी (महिमा) महिमा (स्वतः 'स्यात्') स्वभावसे ही होती है (जलाशयस्य स्तोकापवादेन न) 'यह छोटा है'-इसतरह तालाव वगैरहकी निन्दासे नहीं होती।

भावार्थ-हे भगवन्! दूसरेके दोष वतलाकर हम आपका गुणीपना सिद्ध नहीं करना चाहते क्योंकि आप स्वभावसे ही गुणी है। सरोवरको छोटा कहदेने मात्रसे समुद्रकी विशालता सिद्ध नहीं होती किंतु विशालता उसका स्वभाव है इसलिये वह 'विशाल-वड़ा' कहलाता है ॥ ११ ॥

कर्मस्थितिं जन्तुरनेकभूमिं नयत्यमुं सा च परस्परस्य ।
त्वं नेतृभावं हि तयोर्भवाब्धौ जिनेन्द्र नौनाविकयोरिवाख्यः ॥१२

अन्वयार्थ-(जन्तुः) जीव (कर्मस्थितिम्) कर्मोंकी स्थितिको (अनेकभूमिम्) अनेक जगह (नयति) ले जाता है (च) और (सा) वह कर्मोंकी स्थिति (अमुम्) उस जीवको (अनेकभूमिम्) अनेकजगह ले जाता है। इस तरह (जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्रदेव! (त्वम्) आपने (भवाब्धौ) संसाररूप समुद्रमें (नौनाविकयो इव) नाव और खेवटियाकी तरह (तयोः) उन दोनोंमें (हि) निश्चयसे

(परस्परस्य) एक दूसरेका (नेतृभावम्) नेतृत्व (आख्यः) कहा है।

भावार्थ—सिद्धान्त ग्रन्थोंमें कहा गया है कि यह जीव अपने भले बुरे भावोंसे जिन कर्मोंको बांधता है वे कर्म तबतक उसका साथ नहीं छोड़ते जबतक फल देकर खिर नहीं जाते। इस बीचमें जीव जन्म मरण कर अनेक स्थानोंमें पैदा होजाता है। इसी अपेक्षासे कहा गया है कि जीव कर्मोंको अनेक जगह ले जाता है और जीवका जन्म मरणकर जहांतहां पैदा होना आयु आदि कर्मोंकी सहायताके विना नहीं होता। इसलिये कहा गया है कि कर्म ही जीवको चारों गतियोंमें जहाँतहाँ लेजाते हैं। हे भगवन्! आपने इन दोनोंमें परस्परका नेतृत्व उस तरह कहा है जिस तरह कि समुद्रमें पड़े हुए जहाज और खेवटियामें हुआ करता है ॥ १२ ॥

सुखाय दुःखानि गुणाय दोषान्धर्माय पापानि समाचरन्ति।
तैलाय बालाः सिकतासमूहं निपीडयन्ति स्फुटमत्वदीयाः ॥१३॥

अन्वयार्थ–जिसप्रकार (बालाः) बालक (तैलाय) तेलके लिये (सिकतासमूहम) बालुके समूहको (निपीडयन्ति) पेलते हैं (स्फुटम्) ठीक, उसीप्रकार (अत्वदीया) आपके प्रतिकूल चलनेवाले पुरुष (सुखाय) सुखके लिये (दुःखानि) दुःखोंको, (गुणाय) गुणके लिये (दोपान्) दोषोंको और (धर्माय) धर्मके लिये (पापानि) पापोंको (समाचरन्ति) समाचरित करते हैं।

भावार्थ–हे भगवन्! जो आपके शासनमें नहीं चलते उन्हें धार्मिक तत्त्वोंका सच्चा ज्ञान नहीं होपाता इसलिये वे अज्ञानियोंकी तरह उल्टे आचरण करते हैं। वे किसी स्त्री, राज्य या स्वर्ग आदिको प्राप्त कर सुखी होनेकी इच्छासे तरह तरहके कायक्लेश कर दुःख उठाते हैं पर सकाम तपस्याका कोई फल नहीं होता इसलिये वे

अन्तमें भी दुःखी ही रहते हैं । 'हममें शील शांति आदि गुणोंका विकाश हो' ऐसी इच्छा रखते हुए भी रति-लम्पटी, क्रोधी आदि देवोंकी उपासना करते हैं पर उन देवोंकी शीलघातक और क्रोधयुक्त क्रियाओंका उनपर बुरा असर पड़ता है जिससे उनमें गुणोंका विकाश न होकर दोपोंका ही विकाश होजाता है । इसीप्रकार यज्ञादि धर्म करनेकी इच्छासे पशुहिंसा आदि पाप करते हैं जिससे उल्टा पापबन्ध ही होता है। हे प्रभो ! यह बिलकुल स्पष्ट है कि उनकी क्रियायें उन बालकों जैसी हैं जो कि तैल पानेकी इच्छासे बालुके पुञ्जको कोल्हूमें पेलते हैं ॥ १३ ॥

विपापहारं मणिमौषधानि मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च ।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरन्ति पर्यायनामानि तवैव तानि ॥१४॥

अन्वयार्थ-(अहो) आश्चर्य है कि लोग (विपापहारम्) विषको दूर करनेवाले (मणिम्) मणिको (औषधानि) औषधियोंको (मन्त्रम्) मन्त्रको (च) और (रसायनम्) रसायनको (समुद्दिश्य) उद्देश्य कर (भ्राम्यन्ति) यहां वहां घूमते हैं किंतु (त्वम्) आप ही मणि हैं, औषधि हैं मन्त्र हैं और रसायन हैं (इति) ऐसा (स्मरन्ति) ख्याल नहीं करते । क्योंकि (तानि) वे मणि आदि (तव एव) आपके ही (पर्यायनामानि) पर्यायवाची शब्द हैं ।

भावार्थ-हे भगवन् ! जो मनुष्य शुद्ध हृदयसे आपका स्मरण करते हैं उनके विष वगैरहका विकार अपने आप दूर होजाता है । कहा जाता है कि एक समय स्तोत्रके रचयिता धनंजय कविके लड़केको सांपने डस लिया तब वे अन्य उपचार न कर उसे सीधे जिन मन्दिरमें ले गये और वहां विपापहार स्तोत्र रचकर भगवान्के सामने पढ़ने लगे । उनकी सच्ची भक्तिके प्रभावसे पुत्रका विष दूर होने लगा

और वे "विषापहारं मणिमौषधानि" इस श्लोकको पढ़कर पूरा करते हैं त्यों ही पुत्र उठकर बैठ जाता है—उसका विष विकार बिलकुल दूर होजाता है। कविने स्तोत्रको पूरा किया और इसके पाठसे विष विकार दूर हुआ था इसलिये इसका नाम 'विषापहार' स्तोत्र प्रचलित किया ॥ १४ ॥

चित्ते न किञ्चित्कृतवानसि त्वं देवः कृतश्चेतसि येन सर्वम् ।
हस्ते कृतं तेन जगद्विचित्रं सुखेन जीवत्यपि चित्तबाह्यः ॥१५॥

अन्वयार्थ—(त्वम्) आप (चित्ते) अपने हृदयमें (किंचित्) कुछ भी (न कृतवान् असि) नहीं करते हैं—रखते हैं किन्तु (येन) जिसके द्वारा (देवः) आप (चेतसि) हृदयमें (कृतः) धारण किये गये हैं (तेन) उसके द्वारा (सर्वम्) समस्त (जगत्) संसार (हस्ते कृतम्) हाथमें कर लिया गया है—अर्थात् उसने सब कुछ पा लिया है। यह (विचित्रम्) आश्चर्यकी बात है। और आप (चित्त-बाह्यः अपि) चेतनसे रहित होते हुए भी (सुखेन जीवति) सुखसे जीवित हैं यह आश्चर्य है।

भावार्थ—यह बात प्रसिद्ध है—यदि मोहनके शरीर पर पांच हजारके आभूषण हैं तो वह मोहन, जिस कुर्सी पर बैठेगा उस कुर्सी पर भी पांच हजारके आभूषण कहलाते हैं। यदि उसके शरीर पर कुछ भी नहीं है तो कुर्सी पर भी कुछ नहीं कहलाता। पर यहां विचित्र ही बात है। आपके चित्तमें कुछ भी नहीं है पर जो मनुष्य आपको अपने चित्तमें विराजमान करता है उसके हाथमें सब कुछ आजाता है। इस विरोधका परिहार यह है—यद्यपि आपके पास किसीको देनेके लिये कुछ भी नहीं है और रागभाव न होनेसे आप मनमें भी ऐसा विचार नहीं करते कि मैं अमुक मनुष्यके लिये अमुक

वस्तु हूं। फिर भी भक्त जीव अपनी शुभ भावनाओंसे शुभ कर्मोंका बन्ध कर उनके उदय-कालमें सब कुछ पा लेते हैं। अथवा जो यथार्थमें आपको अपने हृदयमें धारण कर लेता है वह आपके समान ही निःस्पृह हो जाता है—उसकी सब इच्छाएं शान्त हो जाती हैं। वह सोचता है कि मुझे और कुछ नहीं चाहिये। मैं आज आपको अपने चित्तमें धारण कर सका मानों तीनों लोकोंकी सम्पत्तियां हमारे हाथमें आगई।

दूसरा विरोध यह है कि आप चित्त—चेतनसे बाह्य होकर भी जीवित रहते हैं। अभी जो चेतनसे रहित होजाता है वह मृत कहलाने लगता है, पर यहां उससे विरुद्ध बात है। विरोधका परिहार यह है—कि आप चित्तबाह्य=अर्थात् मनसे चिन्तवन करनेके अयोग्य होते हुए भी अनन्त सुखसे हमेशा जीवित रहते हैं—आप अजर अमर हैं। तात्पर्य यह है कि आपमें अनन्त सुख है तथा आप इतने अधिक प्रभावशाली हैं कि भव्यजीव आपका मनसे चिंतवन भी नहीं कर पाते ॥ १५ ॥

त्रिकालतत्त्वं त्वमवैस्त्रिलोकीस्वामीति संख्यानियतेरमीषां ।
बोधाधिपत्यं प्रति नाभविष्यंस्तेऽन्येऽपि चेद्व्याप्स्यदमूनपीदं ॥ १६

अन्वयार्थ—(त्वम्) आप (त्रिकालतत्त्वम्) भूत भविष्यत् वर्तमान—इन तीनों कालोंके पदार्थोंको (अवैः) जानते हैं तथा (त्रिलोकी स्वामी) ऊर्ध्व, मध्य, पाताल—तीनों लोकोंके स्वामी हैं (इति संख्या) इस प्रकारकी संख्या (अमीषां नियतेः) उन पदार्थोंके निश्चित संख्यावाले होनेसे (युज्यते) ठीक हो सकती है परन्तु (बोधाधिपत्यं प्रति न) ज्ञानके साम्राज्यके प्रति पूर्वोक्त प्रकारकी संख्या ठीक नहीं होसकती। क्योंकि (इदम्) ज्ञान (चेत्) यदि (ते अन्ये

अपि अभविष्यन्) वे तथा और भी पदार्थ होते [तर्हि] तो (अमून् अपि) उन्हें भी (व्याप्स्यत्) व्याप्त कर लेता-जान लेता।

भावार्थ—हे प्रभो! आप तीन काल तथा तीन लोककी बातको जानते हैं इसलिये आपका ज्ञान भी उतना ही है ऐसा नहीं है। किंतु आपके ज्ञानका साम्राज्य सब ओर अनन्त है। जितने पदार्थ हैं उनको तो ज्ञान जानता ही है। यदि इनके सिवाय और भी होते तो ज्ञान उन्हें भी अवश्य ही जानता ॥ १६ ॥

नाकस्य पत्युः परिकर्म रम्यं नागम्यरूपस्य तवोपकारि।
तस्यैव हेतुः स्वसुखस्य भानोरुद्विभ्रतच्छत्रमिवादरेण ॥१७॥

अन्वयार्थ—(नाकस्य पत्युः) इन्द्रकी (रम्यम्) मनोहर (परिकर्म) सेवा (अगम्यरूपस्य) अज्ञेय है स्वरूप जिनका ऐसे (तव) आपका (उपकारि न) उपकार करनेवाली नहीं है, किन्तु जिसका स्वरूप अप्राप्य है ऐसे (भानो) सूर्यके लिये (आदरेण) आदरपूर्वक (छत्रम् उद्विभ्रतः इव) छत्र धारण करनेवालेकी तरह (तस्य एव) उन इन्द्रके ही (स्वसुखस्य) आत्मसुखका (हेतुः) कारण है।

भावार्थ—जिसप्रकार कोई सूर्यके लिये छत्ता लगावे तो उससे सूर्यका कुछ भी उपकार नहीं होता क्योंकि वह सूर्य छत्ता लगानेवालेसे बहुत ऊपर है परंतु छत्ता लगानेवालेको अवश्य ही छायाका सुख होता है। उसी प्रकार इन्द्र जो आपकी सेवा करता था उससे आपका क्या भला होता था? क्योंकि वह वास्तवमें आपके स्वरूपको समझ ही नहीं सका था। उल्टा शुभाश्रव होनेसे उसीका भला होता था ॥ १७ ॥

क्वोपेक्षकस्त्वं क्व सुखोपदेशः स चेत्किमिच्छाप्रतिकूलवादः।
क्वासौ क्व वा सर्वजगत्प्रियत्वं तन्नो यथातथ्यमवेविचम् ते ॥१८॥

अन्वयार्थ-(उपेक्षक: त्वम् क) रागद्वेष रहित आप कहां ? और (सुखोपदेशः क) सुखका उपदेश देना कहां ? (चेत्) यदि (सः) सुखका उपदेश आप देते हैं [तर्हि] तो (इच्छाप्रतिकूलवादः क्व) इच्छाके विरुद्ध बोलना ही कहां है ? अर्थात् आपके इच्छा नहीं है ऐसा कथन क्यों किया जाता है ? (असौ क) इच्छाके प्रतिकूल बोलना कहां ? (वा) और (सर्वजगत्प्रियत्वम् क) सब जीवोंको प्रिय होना कहां ? इसतरह जिस कारणसे आपकी प्रत्येक बातमें विरोध है (तत्) उस कारणसे मैं (ते यथातथ्यम् नो अवेविचम्) आपकी वास्तविकता-असली रूपका विवेचन नहीं कर सक्ता।

भावार्थ-हे भगवन् ! जब आप राग द्वेषसे रहित हैं तब किसीको सुखका उपदेश कैसे देते हैं ? यदि सुखका उपदेश देते हैं तो इच्छाके विना कैसे उपदेश देते हैं ? यदि इच्छाके विना उपदेश देते हैं तो जगत्के सब जीवोंको प्यारे कैसे हैं ? इस तरह आपकी सब बातें परस्परमें विरुद्ध हैं। दर असलमें आपकी असलियतको कोई नहीं जान सक्ता ॥ १८ ॥

तुङ्गात्फलं यत्तदकिंचनाच्च प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः ।
निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रेर्नैकापि निर्याति धुनी पयोधेः ॥१९॥

अन्वयार्थ—(तुङ्गात् अकिंचनात् च) उदार चित्तवाले दरिद्र मनुष्यसे भी (यत्फलम्) जो फल (प्राप्यम् 'अस्ति') प्राप्त होसकता है (तत्) वह (समृद्धात् धनेश्वरादेः न) सम्पत्तिशाली धनाढ्योंसे नहीं प्राप्त होसक्ता। ठीक ही तो है-(निरम्भसः अपि उच्चतमात् अद्रेः इव) पानीसे शून्य होनेपर भी अत्यन्त ऊँचे पहाड़के समान (पयोधेः) समुद्रसे (एका अपि धुनी) एक भी नदी (न निर्याति) नहीं निकलती है।

भावार्थ—पहाड़के पास पानीकी एक बूंद भी नहीं है। परन्तु उसकी प्रकृति अत्यन्त उन्नत है इसलिये उससे कई नदियां निकलती हैं, परन्तु समुद्रसे जो कि पानीसे लबालब भरा रहता है एक भी नदी नहीं निकलती। इसका कारण है—समुद्रमें ऊँचाईका अभाव। भगवन्! मैं जानता हूं कि आपके पास कुछ भी नहीं है। परन्तु आपका हृदय पर्वतकी तरह उन्नत है—दीन नहीं है, इसलिये आपसे हमें जो चीज मिल सकती है वह अन्य धनाढ्योंसे नहीं मिल सकती क्योंकि समुद्रके समान वे भी ऊँचे नहीं हैं अर्थात् कृपण हैं ॥१९॥

त्रैलोक्यसेवानियमाय दण्डं दध्रे यदिंद्रो विनयेन तस्य ।
तत्प्रातिहार्यं भवतः कुतस्त्यं तत्कर्मयोगाद्यदि वा तवास्तु ॥२०॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस कारणसे (इन्द्रः) इन्द्रने (विनयेन) विनयपूर्वक (त्रैलोक्यसेवानियमाय) तीन लोकके जीवोंकी सेवाके नियमके लिये अर्थात् मैं त्रिलोकके जीवोंकी सेवा करूंगा, उन्हें धर्मके मार्गपर लगाऊँगा इस उद्देश्यसे (दण्डम्) दण्ड (दध्रे) धारण किया था। (तत्) उस कारणसे (प्रातिहार्यम्) प्रतीहारपना (तस्य स्यात्) इन्द्रके ही हो (भवतः कुतस्त्यम्) आपके कहांसे आया? (यदि वा) अथवा (तत्कर्मयोगात्) इन्द्रके उस कार्यमें प्रेरक होनेसे (तव अस्तु) आपके भी प्रातिहार्य—प्रतिहारपना हो।

भावार्थ—जब भगवान् ऋषभनाथ भोगभूमिके बाद कर्मभूमिकी व्यवस्था करनेके लिये तैयार हुए तब इन्द्रने आकर भगवानकी इच्छानुसार सब व्यवस्था करनेके लिये दण्ड धारण किया था। अर्थात् प्रतीहार पद स्वीकार किया था। जो कि किसी कामकी व्यवस्था करनेके लिये दण्ड धारण किया करता है उसे प्रतीहार कहते हैं। जैसे कि आजकल लाठी धारण किये हुये वालन्टिअर-

स्वयंसेवक । प्रतीहारके कार्य अथवा भावको संस्कृतमें प्रातिहार्य कहते हैं। हे प्रभो ! जब इन्द्रने सब व्यवस्था की थी तब सच्चा 'प्रातिहार्य' प्रतिहारपना इन्द्रके ही होसकता है, आपके कैसे होसकता है ? क्योंकि आपने प्रतीहारका काम थोड़े ही किया था । फिर भी यदि आपके प्रातिहार्य होता ही है ऐसा कहना है तो उपचारसे कहा जा सकता है । क्योंकि आप इन्द्रके उस काममें प्रेरक थे ।

अथवा श्लोकका ऐसा भी भाव होसक्ता है-'तीनलोकके जीव भगवान्‌की सेवा करो' इस नियमको प्रचलित करनेके लिये इन्द्रने हाथमें दण्ड लिया था-इसलिये प्रातिहार्य इन्द्रके ही बन सक्ता है, आपके नहीं। अथवा आपके भी होसक्ता है क्योंकि आपसे ही इन्द्रकी उस क्रियाके कर्मकारकका सम्बन्ध होता था । यहां एक और भी गुप्त अर्थ है, वह इस प्रकार है-लोकमें प्रातिहार्य पदका अर्थ आभूषण प्रसिद्ध है । भगवान्‌के भी अशोक वृक्ष आदि आठ प्रातिहार्य-आभूषण होते हैं । यहां कवि, प्रातिहार्य पदके श्लेषसे पहले यह बतलाना चाहते हैं कि संसारके अन्य देवोंकी तरह आपके शरीर-पर प्रातिहार्य नहीं हैं । इन्द्रके प्रातिहार्य-प्रतीहारपना हो पर आपके प्रातिहार्य आभूषण कहांसे आये ? फिर उपचार पक्षका आश्रय लेकर कहते हैं कि आपके भी प्रातिहार्य होसकते हैं । उसका कारण है 'तत्कर्मयोगात्' अर्थात् आभूषणोंके कार्य-सौंदर्य वृद्धिके साथ सम्बन्ध होना ॥ २० ॥

श्रिया परं पश्यति साधु निःस्वः श्रीमान्न कश्चित्कृपणं त्वदन्यः ।
यथा प्रकाशस्थितमन्धकारस्थायीक्षतेऽसौ न तथा तमःस्थम् ॥२१

अन्वयार्थ-(निःस्वः) निर्धन पुरुष (श्रिया परम) लक्ष्मीसे श्रेष्ठ अर्थात् सम्पन्न मनुष्यको (साधु) अच्छी तरह-आदरभावसे

(पश्यति) देखता है किन्तु (त्वदन्यः) आपसे भिन्न (कश्चित्) कोई (श्रीमान्) सम्पत्तिशाली पुरुष (कृपणम्) निर्धनको (साधु न पश्यति) अच्छे भावोंसे नहीं देखता। ठीक है (अन्धकारस्थायी) अन्धकारमें ठहरा हुआ मनुष्य (प्रकाशस्थितम्) उजेलेमें ठहरे हुए पुरुषको (यथा) जिस प्रकार (ईक्षते) देख लेता है (तथा) उस-प्रकार (असौ) उजेलेमें स्थित पुरुष (तमःस्थम्) अँधेरेमें स्थित पुरुषको (न ईक्षते) नहीं देख पाता।

भावार्थ—हे प्रभो! संसारके श्रीमान् निर्धन पुरुषोंको बुरी निगाहसे देखते हैं, पर आप श्रीमान् होते हुए भी ज्ञानादि सम्पत्तिसे रहित मनुष्योंको बुरी निगाहसे नहीं देखते। उन्हें भी अपनाकर हितका उपदेश दे सुखी करते हैं। इस तरह आप संसारके अन्य श्रीमानोंसे भिन्न ही श्रीमान हैं। दोनोंकी श्री-लक्ष्मीमें भेद जो ठहरा। उनके पास रुपया चांदी सोना वगैरह जड़ लक्ष्मी है पर आपके पास अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य—अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी है ॥२१॥

स्ववृद्धिनिःश्वासनिमेषभाजि प्रत्यक्षमात्मानुभवेपि मूढः।
किं चाखिलज्ञेयविवर्तिबोधस्वरूपमध्यक्षमवैति लोकः ॥२२॥

अन्वयार्थ—(प्रत्यक्षम्) यह प्रकट है कि [यः] जो मनुष्य (स्ववृद्धिनिःश्वासनिमेषभाजि) अपनी वृद्धि, श्वासोच्छ्वास, और आँखोंकी टिमकारको प्राप्त (आत्मानुभवे अपि) अपने आपके अनुभव करनेमें (मूढ़) मूर्ख है (स लोकः) वह मनुष्य (अखिल-ज्ञेयविवर्तिबोधस्वरूपम्) सम्पूर्ण पदार्थोंको जाननेवाला ज्ञान ही स्वरूप जिसका ऐसे (अध्यक्षम्) अध्यात्मस्वरूप आपको (किं च अवेति) कैसे जान सकता है ?

भावार्थ—भगवन् ! जो मनुष्य अपने आपके स्थूल पदार्थोंको

भी जाननेके लिये समर्थ नहीं है वह ज्ञानस्वरूप तथा आत्मामें विराजमान आपको कैसे जान सकता है? अर्थात् नहीं जान सकता ॥ २२ ॥

तस्यात्मजस्तस्य पितेति देव त्वां येऽवगायन्ति कुलं प्रकाश्य ।
तेऽद्यापि नन्वाश्मनमित्यवश्यं पाणौ कृतं हेम पुनस्त्यजन्ति ॥२३॥

अन्वयार्थ—(देव) हे नाथ ! (ये) जो मनुष्य, आप (तस्य आत्मजः) उसके पुत्र हो और (तस्य पिता) उसके पिता हो (इति) इसप्रकार (कुलम् प्रकाश्य) कुलका वर्णन कर (त्वाम् अवगायन्ति) आपका अपमान करते हैं (ते) वे (अद्य अपि) अब भी (पाणौ कृतम्) हाथमें आये हुए (हेम) सुवर्णको (आश्मनम्) पत्थरसे पैदा हुआ है (इति) इस हेतुसे (पुनः) फिर (अवश्यं त्यजन्ति) अवश्य ही छोड़ देते हैं ?

भावार्थ—एक तो सुवर्ण हाथ नहीं लगता, यदि किसी तरह लग भी जावे तो उसे यह सोचकर कि इसकी उत्पत्ति पत्थरोंसे हुई है फिर फेंक देना मूर्खता है। इसी तरह आपका श्रद्धान व ज्ञान सबको नहीं होता। यदि किसीको हो भी जावे तो वह आपको मनुष्य कुलमें पैदा बतलाकर फिर भी छोड़ देता है, यह सबसे बढ़-कर मूर्खता है। सुवर्ण यदि शुद्ध है चाहे वह पत्थरसे नहीं, दुनियांके किसी हलकेसे भी हलके पदार्थसे उत्पन्न हुआ हो तो बाजारमें उसकी कीमत पूरी ही लगेगी। और मैल सहित है—अशुद्ध है तो किसी भी अच्छे पदार्थसे उत्पन्न होनेपर भी उसकी पूरी कीमत नहीं लग सक्ती। इसी प्रकार जो आत्मा शुद्ध है, कर्ममलसे रहित है, भले ही वह उस पर्यायमें नीच कुलमें पैदा हुआ हो, पूज्य कहलाता है। और यदि वही आत्मा उच्च कुलमें पैदा होकर भी अशुद्ध है-मलिन है तो उसे कोई पूछता भी नहीं है ॥ २३ ॥

दत्तस्त्रिलोक्यां पटहोभिभूताः सुरासुरास्तस्य महान्स लाभः ।
मोहस्य मोहस्त्वयि को विरोद्धुर्मूलस्य नाशो बलवद्विरोधः ॥२४॥

अन्वयार्थ—मोहके द्वारा (त्रिलोक्याम्) तीनों लोकोंमें (पटहः) विजयका नगाड़ा (दत्तः) दिया गया-बजाया गया उससे जो (सुरासुराः)सुर और असुर (अभिभूताः) तिरस्कृत हुए (सः) वह (तस्य) उस मोहका (महान् लाभः) बड़ा लाभ हुआ किंतु (त्वयि) आपके विषयमें (मोहस्य मोहः 'जातः') मोहको भी मूर्छा प्राप्त होगई सो ठीक है (बलवद्विरोधः) बलवान्के साथ विरोध करना (विरोद्धुः) विरोध करनेवालेके (मूलस्य नाशः) मानो मूलका नाश करना है ।

भावार्थ—हे भगवन ! जिस मोहने संसारके सब जीवोंको अपने वश कर लिया उस मोहको भी आपने जीत लिया है अर्थात् आप मोहरहित—रागद्वेषशून्य हैं ॥ २४ ॥

मार्गस्त्वयैको ददृशे विमुक्तेश्चतुर्गतीनां गहनं परेण ।
सर्वं मया दृष्टमिति स्मयेन त्वं मा कदाचिद्भुजमालुलोके ॥२५॥

अन्वयार्थ—(त्वया) आपके द्वारा (एकः) एक (विमुक्तेः) मोक्षका ही (मार्गः) मार्ग (ददृशे) देखा गया है और (परेण) दूसरेके द्वारा (चतुर्गतीनाम्) चारों गतियोंका (गहनम्) सघन वन [ददृशे] देखा गया है मानों इसीलिये (त्वम्) आपने (मया सर्वं दृष्टम्) मैंने सब कुछ देखा है (इति स्मयेन) इस अभिमानसे (कदाचित्) कभी भी (भुजम्) अपनी भुजाको (मा आलुलोक) नहीं देखा था ।

भावार्थ—घमण्डियोंका स्वभाव होता है कि वे अपनेको बड़ा समझकर वारवार अपनी भुजाओंकी तरफ देखते हैं, पर आपने

घमण्डसे कभी अपनी भुजाकी तरफ नहीं देखा । उसका कारण यह है कि आप सोचते थे कि मैंने तो सिर्फ एक मोक्षका ही रास्ता देखा है और अन्य देवी देवता चारों गतियोंके रास्तोंसे परिचित हैं इसलिये मैं उनके सामने अल्पज्ञ हूं । अल्पज्ञका बहुज्ञानियोंके सामने अभिमान कैसा ? श्लोकका तात्पर्य यह है कि आप अभिमानसे रहित हैं और निश्चित ही मोक्षको प्राप्त होनेवाले हैं, परन्तु अन्य देवता अपने अपने कार्योंके अनुसार नरक आदि चारों गतियोंमें घूमा करते हैं ॥ २५ ॥

स्वर्भानुरर्कस्य हविर्भुजोऽम्भः कल्पान्तवातोऽम्बुनिधेर्विघातः ।
संसारभोगस्य वियोगभावो विपक्षपूर्वाभ्युदयास्त्वदन्ये ॥२६॥

अन्वयार्थ—(स्वर्भानुः) राहु (अर्कस्य) सूर्यका, (अम्भः) पानी (हविर्भुजः) अग्निका, (कल्पान्तवातः) प्रलयकालकी वायु (अम्बुनिधेः) समुद्रका तथा (वियोगभावः) विरहभाव (संसारभोगस्य) संसारके भोगोंका (विघातः) नाश करनेवाला है इसतरह (त्वदन्ये) आपसे भिन्न सब पदार्थ (विपक्षपूर्वाभ्युदयाः 'सन्ति') विनाशके साथ ही उदय होते हैं ।

भावार्थ—हे प्रभो ! संसारके सब पदार्थ अनित्य हैं, सिर्फ आप ही सामान्य स्वरूपकी अपेक्षा नित्य हैं अर्थात् आप जन्म मरणसे रहित हैं और आपकी यह विशुद्धता भी कभी नष्ट नहीं होती ॥२६॥

अजानतस्त्वां नमतः फलं यत्तज्जानतोऽन्यं न तु देवतेति ।
हरिन्मणिं काचधिया दधानस्तं तस्य बुद्ध्या वहतो न रिक्तः ॥२७

अन्वयार्थ—(त्वाम्) आपको (अजानतः) विना जाने ही (नमतः) नमस्कार करनेवाले पुरुषको (यत् फलम्) जो फल होता है (तत्) वह फल (अन्यं देवता इति जानत) दूसरेको 'देवता है'

इस तरह जाननेवाले पुरुषको (न तु) नहीं होता। क्योंकि (हरिन्मणिम्) हरे मणिको (काचधिया) काचकी बुद्धिसे (दधानः) धारण करनेवाला पुरुष (तं तस्य बुद्धया वहतः) हरे मणिको हरे मणिकी बुद्धिसे धारण करनेवाले पुरुषकी अपेक्षा (रिक्तः न) दरिद्र नहीं है।

भावार्थ—हे भगवन्! जो आपको नमस्कार करता है पर आपके स्वरूपको नहीं जानता, उसे भी जो पुण्यबंध होता है वह किसी दूसरेको देवता माननेवाले पुरुषको नहीं होता। जिस तरह कोई अजान मनुष्य हरित मणिको पहन कर उसे काच समझता है तो वह दूसरेकी निगाहमें जो मणिको मणि समझकर पहिन रहा है निर्धन नहीं कहलाता। वे दोनों एक जैसी संपत्तिके अधिकारी कहे जाते हैं। श्रद्धा और विवेकके साथ प्राप्त हुआ अल्पज्ञान भी प्रशंसनीय है॥ २७॥

प्रशस्तवाचश्चतुराः कषायैर्दग्धस्य देवव्यवहारमाहुः।
गतस्य दीपस्य हि नंदितत्वंदृष्टं कपालस्य च मंगलत्वम्॥२८

अन्वयार्थ—(प्रशस्तवाचः) सुन्दर वचन बोलनेवाले (चतुराः) चतुर मनुष्य (कषायैः दग्धस्य) कषायोंसे जले हुए पुरुषके भी (देवव्यवहारम् आहु) देव शब्दका व्यवहार करना कहते हैं। सो ठीक ही है (हि) क्योंकि (गतस्य दीपस्य) बुझे हुए दीपकका (नंदितत्वं) बढ़ना (च) और (कपालस्य) फूटे हुए घड़ेका (मङ्गलत्वम्) मङ्गलपन (दृष्टम्) देखा गया है।

भावार्थ—हे भगवन्! लौकिक मनुष्य रागी द्वेषी जीवोंके भी देव शब्दका व्यवहार करते हैं सो सिर्फ लोकव्यवहारसे ही किसी बातकी सत्यता नहीं होती। क्योंकि लोकमें कितनी ही बातोंका

उल्टा व्यवहार होता है । जैसे कि जब दीपक बुझ जाता है तब लोग कहते हैं कि दीपक बढ़ गया । और जब घड़ा फूट जाता है तब लोग कहने लगते हैं कि घडेका कल्याण होगया ॥ २८ ॥

नानार्थमेकार्थमदस्त्वदुक्तं हितं वचस्ते निशमय्य वक्तुः ।
निर्दोषतां के न विभावयन्ति ज्वरेण मुक्तः सुगमः स्वरेण ॥२९॥

अन्वयार्थ—(नानार्थम्) अनेक अर्थोंके प्रतिपादक तथा (एकार्थम्) एक ही प्रयोजन युक्त (त्वदुक्तम्) आपके कहे हुए (अदः हितं वचः) इन हितकारी वचनोंको (निशमय्य) सुनकर (के) कौन मनुष्य (ते वक्तुः) आप वक्ताकी (निर्दोषताम्) निर्दोषताको (न विभावयन्ति) नहीं अनुभव करते हैं अर्थात् सभी करते हैं । जैसे [यः] जो (ज्वरेण मुक्तः 'भवति') ज्वरसे मुक्त होजाता है [सः] वह (स्वरेण सुगमः 'भवति') स्वरसे सुगम होजाता है । अर्थात् वह सब स्वरोंका अच्छी तरह उच्चारण कर सकता है ।

भावार्थ—आपके वचन नानार्थ होकर भी एकार्थ हैं । यह प्रारंभमें विरोध मालूम होता है पर अन्तमें उसका इसप्रकार परिहार होजाता है कि आपके वचन स्याद्वाद सिद्धांतसे अनेक अर्थोंका प्रतिपादन करनेवाले हैं, फिर भी एक ही प्रयोजनको सिद्ध करते हैं अर्थात् पूर्वापर विरोधसे रहित हैं । हे भगवन् ! आपके हितकारी वचनोंको सुनकर यह स्पष्ट मालूम होजाता है कि आप निर्दोष हैं क्योंकि सदोष पुरुष वैसे वचन नहीं बोल सकता जैसे कि किसीकी अच्छी आवाज सुनकर साफ मालूम होजाता है कि वह ज्वरसे मुक्त है क्योंकि ज्वरसे पीड़ित मनुष्यका स्वर अच्छा नहीं होता ॥ २९ ॥

न क्वापि वाञ्छा ववृते च वाक्ते काले क्वचित्कोऽपि तथा नियोगः।
न पूरयाम्यम्बुधिमित्युदंशुः स्वयं हि शीतद्युतिरभ्युदेति ॥३०॥

अन्वयार्थ—(ते) आपकी (क्वापि) किसी भी वस्तुमें (वाञ्छा न) इच्छा नहीं है (च) और (वाक् ववृते) वचन प्रवृत्त होते हैं। सचमुचमें (क्वचित्काले) किसी कालमें (तथा) वैसा (कः अपि नियोग) कोई नियोग-नियम ही होता है। (हि) क्योंकि (शीतद्युतिः) चन्द्रमा (अम्बुधिम् पूरयामि) मैं समुद्रको पूर्ण कर दूं (इति) इसलिये (उदंशुः न भवति) उदित नहीं होता किंतु (स्वयम् अभ्युदेति) स्वभावसे ही उदित होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार चन्द्रमा यह इच्छा रख कर उदित नहीं होता कि मैं समुद्रको लहरोंसे भर दूं पर उसका वैसा स्वभाव ही है कि चन्द्रमाका उदय होनेपर समुद्रमें लहरें उठने लगती हैं, इसी-प्रकार आपके यह इच्छा नहीं है कि मैं कुछ बोलूं पर वैसा स्वभाव होनेसे आपके वचन प्रकट होने लगते हैं॥ ३० ॥

गुणा गभीराः परमाः प्रसन्ना बहुप्रकारा बहवस्तवेति।
दृष्टोयमन्तः स्तवने न तेषां गुणो गुणानां किमतः परोस्ति ॥३१॥

अन्वयार्थ- (तव) आपके (गुणा) गुण (गभीराः) गंभीर (परमा) उत्कृष्ट (प्रसन्नाः) उज्ज्वल (बहुप्रकाराः) अनेक प्रकारके और (बहवः) बहुत है (इति अयम्) इस प्रकार ही (तेषाम्) उनका (अन्तः दृष्टः) अन्त देखा जाता है अर्थात् वे गुण आपको छोड़ कर अन्य किसीमें नहीं पाये जाते (स्तवनेन) स्तुतिमें उनका अन्त नहीं देखा जाता, क्योंकि वे अनन्त हैं। (गुणानाम्) गुणोंका (अतः परः) इससे बढ़कर (कः गुणः अस्ति) अन्य क्या गुण है ? अर्थात् कुछ नहीं।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके निर्मल गुण संख्या रहित और अनुपम हैं ॥ ३१ ॥

स्तुत्या परं नाभिमतं हि भक्त्या स्मृत्या प्रणत्या च ततो भजामि।
स्मरामि देवं प्रणमामि नित्यं केनाप्युपायेन फलं हि साध्यम् ॥३२॥

अन्वयार्थ—(स्तुत्या हि) स्तुतिके द्वारा ही (अभिमतम् न) इच्छित वस्तुकी सिद्धि नहीं होती (परम्) किन्तु (भक्त्या स्मृत्या च प्रणत्या) भक्ति, स्मृति और नमस्कृतिसे भी होती है (ततः) इसलिये मैं (नित्यम्) हमेशा (देवम् भजामि, स्मरामि, प्रणमामि) आपकी भक्ति करता हूं, आपका स्मरण करता हूं, और आपको प्रणाम करता हूं (हि) क्योंकि (फलम्) इच्छित वस्तुकी प्राप्तिरूप फलको (केन अपि उपायेन) किसी भी उपायसे (साध्यम्) सिद्ध कर लेना चाहिये ।

भावार्थ—हे भगवन्! आपकी स्तुतिसे, भक्तिसे, स्मृति-ध्यानसे और प्रणतिसे जीवोंको इच्छित फलोंकी प्राप्ति होती है इसलिये मैं प्रतिदिन आपकी स्तुति करता हूं, भक्ति करता हूं, ध्यान करता हूं और नमस्कार करता हूं । क्योंकि मुझे जैसे बने तैसे अपना कार्य सिद्ध करना है ॥ ३२ ॥

ततस्त्रिलोकीनगराधिदेवं नित्यं परं ज्योतिरनंतशक्तिम् ।
अपुण्यपापं परपुण्यहेतुं नमाम्यहं बन्द्यमवन्दितारम् ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थ—(ततः) इसलिये (अहम्) मैं (त्रिलोकीनगराधिदेवम्) तीन लोक रूप नगरके अधिपति, (नित्यम्) विनाशरहित, (परम्) श्रेष्ठ (ज्योति) ज्ञान-ज्योति स्वरूप (अनन्तशक्तिम्) अनन्तवीर्यसे सहित, (अपुण्यपापम्) स्वयं पुण्य और पापसे रहित

होकर भी (परपुण्यहेतुम्) दूसरेके पुण्यके कारण तथा (वन्द्यम्) वन्दना करनेके योग्य होकर भी स्वयम् (अवन्दितारम्) किसीको नहीं बन्दनेवाले [भवन्तम्] आपको (नमामि) नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप तीन लोकके स्वामी हैं, आपका कभी विनाश नहीं होता, सर्वोत्कृष्ट हैं, केवल ज्ञानरूप ज्योतिसे प्रकाशमान हैं, आपमें अनन्त बल है, आप स्वयं पुण्य पापसे रहित हैं, पर अपने भक्तजनोंके पुण्यबन्धमें निमित्त कारण हैं, आप किसीको नमस्कार नहीं करते पर सब लोग आपको नमस्कार करते हैं। आपकी इस विचित्रतासे मुग्ध हो मैं भी आपके लिये नमस्कार करता हूं ॥ ३३ ॥

अशब्दमस्पर्शमरूपगन्धं त्वां नीरसं तद्विषयावबोधम् ।
सर्वस्य मातारममेयमन्यैर्जिनेन्द्रमस्मार्यमनुस्मरामि ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ—(अशब्दम्) शब्दरहित, (अस्पर्शम्) स्पर्शरहित (अरूपगन्धम्) रूप और गन्धरहित तथा (नीरसम्) रसरहित होकर भी (तद्विषयावबोधम्) उनके ज्ञानसे सहित, (सर्वस्य मातारम्) सबके जाननेवाले होकर भी (अन्यैः) दूसरोंके द्वारा (अमेयम्) नहीं जाननेके योग्य तथा (अस्मार्यम्) जिनका स्मरण नहीं किया जा सकता ऐसे (जिनेन्द्रम् अनुस्मरामि) जिनेन्द्र भगवानका प्रतिक्षण स्मरण करता हूं—ध्यान करता हूं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दसे रहित हैं—अमूर्तिक हैं, फिर भी उन्हें जानते हैं। आप सबको जानते हैं पर आपको कोई नहीं जान पाता। यद्यपि आपका मनसे भी कोई स्मरण नहीं कर सकता तथापि मैं अपने बाल साहससे आपका क्षण क्षणमें स्मरण करता हूं ॥ ३४ ॥

अगाधमन्यैर्मनसाप्यलंघ्यं निष्किंचनं प्रार्थितमर्थवद्भिः ।
विश्वस्य पारं तमदृष्टपारं पतिं जनानां शरणं व्रजामि ॥३५॥

अन्वयार्थ–(अगाधम्) गम्भीर (अन्यैः) दूसरोंके द्वारा (मनसा अपि अलंघ्यम्) मनसे भी उल्लँघन करनेके अयोग्य अर्थात् अचिन्त्य (निष्किंचनम्) निर्धन होनेपर भी (अर्थवद्भिः) धनाढ्योंके द्वारा (प्रार्थितम्) याचित (विश्वस्य पारम्) सबके पार–स्वरूप होनेपर भी (अदृष्टपारम्) जिनका पार–अन्त कोई नहीं देख सका है ऐसे (तम् जनानाम् पतिम्) उन नरनाथकी (शरणम् व्रजामि) शरणको प्राप्त होता हूं ।

भावार्थ–हे भगवन् ! आप बहुत ही गम्भीर–धैर्यवान् हैं । आपका कोई मनसे भी चिन्तवन नहीं कर सकता । यद्यपि आपके पास देनेके लिये कुछ भी नहीं है, तौ भी धनिक लोग (अथवा याचकवर्ग) आपसे याचना करते हैं, आप सबके पारको जानते हैं, पर आपके पारको कोई नहीं जान सकता और आप जगतके जीवोंके पति–रक्षक हैं ऐसा सोचकर मैं भी आपकी शरणमें आया हूं ॥३५॥

त्रैलोक्यदीक्षागुरवे नमस्ते यो वर्धमानोऽपि निजोन्नतोऽभूत् ।
प्राग्गण्डशैलः पुनरद्रिकल्पः पश्चान्न मेरुः कुलपर्वतोऽभूत् ॥३६॥

अन्वयार्थ–(त्रैलोक्यदीक्षागुरवे ते नमः) त्रिभुवनके जीवोंके दीक्षागुरु स्वरूप आपके लिये नमस्कार हो (यः) जो आप (वर्धमानः अपि) क्रमसे उन्नतिको प्राप्त होते हुये भी (पक्षमें अन्तिम तीर्थंकर) (निजोन्नतः) स्वयमेव उन्नत (अभूत्) हुये थे । (मेरुः) मेरु पर्वत (प्राक्) पहले (गण्डशैल.) गोल पत्थरोंका ढेर, (पुनः) फिर (अद्रिकल्पः) पहाड़ और (पश्चात्) फिर (कुलप-

र्वतः) कुलाचल (न अभूत्) नहीं हुआ था किंतु स्वभावसे ही वैसा था।

भावार्थ–हे प्रभो! आप तीनलोकके जीवोंके दिक्षागुरु हैं इसलिये आपको नमस्कार हो। इस श्लोकके द्वितीय पादमें विरोधाभास अलंकार है। वह इस तरह कि आप अभी वर्धमान हैं–अर्थात् क्रमसे बढ़ रहे हैं फिर भी निजोन्नत–अपने आप उन्नत हुये थे। जो चीज अभी बढ़ रही है वह पहले उससे छोटी ही होती है न कि बड़ी, पर यहां इससे विपरीत वात है। विरोधका परिहार इस प्रकार है कि आप वर्धमान–अन्तिम तीर्थंकर होकर भी स्वयमेव उन्नत थे, न कि क्रम क्रमसे उन्नत हुए थे। क्योंकि मेरु पर्वत आज जितना उन्नत है उतना उन्नत हमेशासे ही था न कि क्रम क्रमसे उन्नत हुआ है। यहां वर्धमान पद श्लिष्ट है॥ ३६॥

स्वयंप्रकाशस्य दिवा निशा वा न बाध्यता यस्य न बाधकत्वम्।
न लाघवं गौरवमेकरूपं वन्दे विभुं कालकलामतीतम् ॥३७।

अन्वयार्थ—(स्वयं प्रकाशस्य यस्य) स्वयं प्रकाशमान रहनेवाले जिसके (दिवा निशा वा) दिन और रातकी तरह (न बाध्यता, न बाधकत्वम्) न बाध्यता है और न बाधकपना भी। इसी प्रकार

१–इस स्तोत्रके दूसरे तीसरे श्लोकसे पता चलता है कि यह स्तोत्र वृषभनाथ प्रथम तीर्थंकरका है, फिर यहां 'वर्धमानोऽपि निजोन्नतोऽभूत्' का विरोध परिहार भगवान् महावीरसे करना-कुछ खटकता है। अथवा गुण सामान्यकी अपेक्षा सब तीर्थङ्करोंमें अभेद करके वैसा कहा भी जा सकता है। यद्वा 'योऽवर्धमानः' इस तरह लुप्ताकार सहित पदच्छेद करनेपर भी परिहार हो जाता है। आप अवर्धमान–क्रमसे उन्नत न होकर स्वयमेव जन्मसे ही उन्नत थे।

जिनके (न लाघवं गौरवम्) न लाघव है न गौरव भी, उन (एक-रूपम्) एकरूप रहनेवाले और (कालकलाम् अतीतम्) कालकी कलासे रहित अर्थात् अन्तरहित (विभुम् वन्दे) परमेश्वरको वन्दना करता हूं ।

भावार्थ—स्वयं प्रकाशमान पदार्थके पास जिसप्रकार रात और दिनका व्यवहार नहीं होता; क्योंकि प्रकाशके अभावको रात कहते हैं और रातके अभावको दिन कहते हैं । जो हमेशा प्रकाशमान रहता है उसके पास अन्धकार न होनेसे रातका व्यवहार नहीं होता और जब रातका व्यवहार नहीं है तब उसके अभावमें होनेवाला दिनका व्यवहार भी नहीं होता, उसी प्रकार आपमें भी बाध्यता और बाधकका व्यवहार नहीं है । आप किसीको बाधा नहीं पहुंचाते, इसलिये आपमें बाधकत्व नहीं और कोई आपको भी बाधा नहीं पहुंचा सकता इसलिये आप बाध्य नहीं हैं । जिसमें बाध्यका व्यव-हार नहीं उसमें बाधकका भी व्यवहार नहीं होता और जिसमें बाधकका व्यवहार नहीं उसमें बाध्यका भी व्यवहार नहीं हो सकता। क्योंकि ये दोनों धर्म परस्परमें सापेक्ष हैं । इसी प्रकार आपमें न लाघव ही है और न गुरुत्व ही। दोनों सापेक्ष धर्मोंसे रहित हैं । आप अगुरुलघुरूप हैं । हे भगवन्! आप समयकी मर्यादासे भी रहित हैं अर्थात् अनन्तकाल तक ऐसे ही रहे आवेंगे ॥ ३७ ॥

इति स्तुतिं देव विधाय दैन्याद्वरं न याचे त्वमुपेक्षकोसि ।
छायातरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्कश्छायया याचितयात्मलाभः॥३८

अन्वयार्थ-(देव) हे देव ! (इति स्तुतिम् विधाय) इस-प्रकार स्तुति करके मैं (दैन्यात्) दीनभावसे (वरम् न याचे) वरदान नहीं मागता, क्योंकि (त्वम् उपेक्षकः असि) आप उपेक्षक हैं—

रागद्वेषसे रहित हैं अथवा (तरुम् संश्रयतः) वृक्षका आश्रय करनेवाले पुरुषको (छाया स्वतः स्यात्) छाया स्वयं प्राप्त होजाती है। (याचितया छायया कः आत्मलाभः) छायाकी याचनासे क्या लाभ है ?

भावार्थ–हे भगवन्! मैं सर्पसे डसे हुए मृतप्राय लड़केको आपके सामने लाया हूं इसलिये स्तुति कर चुकनेके बाद मैं आपसे यह वरदान नहीं मांगता कि आप मेरे लड़केको स्वस्थ कर दें। क्योंकि मैं जानता हूं कि आप रागद्वेषसे रहित हैं इसलिये न किसीको कुछ देते हैं और न किसीसे कुछ छीनते भी हैं। स्तुति करनेवालेको तो फलकी प्राप्ति स्वयं ही होजाती है। जैसे–जो मनुष्य वृक्षके नीचे पहुंचेगा उसे छाया स्वयं प्राप्त होजाती है। छायाकी याचना करनेसे कोई लाभ नहीं होता ॥ ३८ ॥

अथास्ति दित्सा यदि वोपरोधस्त्वय्येव सक्तां दिश भक्तिबुद्धिम्।
करिष्यते देव तथा कृपां मे को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरिः॥३९॥

अन्वयार्थ—(अथ दित्सा अस्ति) यदि आपकी कुछ देनेकी इच्छा है (यदि वा) अथवा, वरदान मांगो ऐसा (उपरोधः 'अस्ति') आग्रह है तो (त्वयि एव सक्ताम्) आपमें लीन (भक्तिबुद्धिम्) भक्तिमयी भावनाको (दिश) देओ। मेरा विश्वास है कि (देव) हे देव! आप (मे) मुझपर (तथा) वैसी (कृपाम् करिष्यते) दया करेंगे (आत्मपोष्ये) अपने द्वारा पोषण करनेके योग्य शिष्यपर (को वा सूरिः) कौन पण्डित पुरुष (सुमुखो न 'भवति') अनुकूल नहीं होता! अर्थात् सभी होते हैं।

भावार्थ–हे नाथ! यदि आपकी कुछ देनेकी इच्छा है तो मैं आपसे यही चाहता हूं कि मेरी भक्ति आपमें ही रहे। मेरा विश्वास

है कि आप मुझपर उतनी कृपा अवश्य करेंगे। क्योंकि विद्वान् पुरुष अपने आश्रित रहनेवाले शिष्यकी इच्छाओंको पूर्ण ही करते हैं ॥ ३९ ॥

पुष्पिताग्रा छन्द ।

वितरति विहिता यथाकथञ्चिज्जिन विनताय मनीषितानि भक्तिः ।
त्वयि नुतिविषया पुनर्विशेषाद्दिशति सुखानि यशो धनं जयं च॥४०

अन्वयार्थ-(जिन) हे जिनेन्द्र ! (यथाकथञ्चित्) जिस किसी तरह (विहिता) की गई (भक्तिः) भक्ति (विनताय) नम्र मनुष्यके लिये (मनीषितानि) इच्छित वस्तुएं (वितरति) देती है (पुनः) फिर (त्वयि) आपके विषयमें की गई (नुतिविषया) स्तुति विषयक भक्ति (विशेषात्) विशेषरूपसे (सुखानि) सुख (यशः) कीर्ति (धनम्) धन-सम्पत्ति (च) और (जयम्) जीतको (दिशति) देती है ।

भावार्थ-हे भगवन् ! आपकी भक्तिसे सुख, यश, धन, तथा विजय आदिकी प्राप्ति होती है ।

इति धनंजयकविकृत विषापहारस्तोत्रम् समाप्तम् ।

१-कविने 'धनंजयं' पदसे अपने नामका भी उल्लेख कर दिया है ।

श्रीभूपालकविप्रणीता-

जिनचतुर्विंशतिका ।

शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

श्रीलीलायतनं महीकुलगृहं कीर्तिप्रमोदास्पदं
वाग्देवीरतिकेतनं जयरमाक्रीडानिधानं महत् ।
सः स्यात्सर्वमहोत्सवैकभवनं यः प्रार्थितार्थप्रदं
प्रातः पश्याति कल्पपादपदलच्छायं जिनाङ्घ्रिद्वयम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(यः) जो मनुष्य (प्रातः) प्रभातके समय (प्रार्थितार्थप्रदम्) इच्छित वस्तुओंको देनेवाले तथा (कल्पपादप-दलच्छायम्) कल्पवृक्षके पल्लव समान कान्तिके धारक (जिनाङ्घ्रि-द्वयम्) जिनेन्द्र भगवान्के चरण-युगलको (पश्यति) देखता है अर्थात् उनके दर्शन करता है (सः) वह (श्रीलीलायतनम्) लक्ष्मीका क्रीड़ागृह, (महीकुलगृहम्) पृथिवीका कुल भवन, (कीर्तिप्रमोदा-स्पदम्) यश और हर्षका स्थान (वाग्देवीरतिकेतनम्) सरस्वतीका क्रीड़ा-मन्दिर (महत् जयरमाक्रीडानिधानम्) विजयलक्ष्मीका विशाल क्रीड़ास्थान और (सर्वमहोत्सवैकभवनम्) सब बड़े बड़े उत्सवोंका मुख्य घर (स्यात्) होता है।

भावार्थ—जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकालके समय जिनेन्द्र भगवान्के दर्शन करता है वह बहुत ही सम्पत्तिशाली होता है, पृथिवी उसके वशमें रहती है, उसकी कीर्ति सब ओर फैल जाती है, वह हमेशा प्रसन्न रहता है, उसे अनेक विद्याएं प्राप्त होजाती हैं, युद्धमें उसकी विजय होती है, अधिक क्या कहें उसे सब उत्सव प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

वसन्ततिलका छन्द।

शान्तं वपुः श्रवणहारि वचश्चरित्रं
सर्वोपकारि तव देव ततः श्रुतज्ञाः।
संसारमारवमहास्थलरुन्दसान्द्र-
च्छायामहीरुह भवन्तमुपाश्रयन्ते ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव! (तव) आपका (वपुः) शरीर (शान्तम्) शान्त है, (वचः) वचन (श्रवणहारि) कानोंको प्रिय हैं और (चरित्रम्) चारित्र (सर्वोपकारि) सबका भला करनेवाला है (ततः) इसलिये (संसारमारवमहास्थलरुन्दसान्द्रच्छायामहीरुह) हे संसाररूप मरुस्थलमें विस्तृत सघन छायावृक्ष! (श्रुतज्ञाः) शास्त्रोंके जाननेवाले विद्वान् पुरुष (भवन्तम् उपाश्रयन्ते) आपका आश्रय करते हैं।

भावार्थ—मरुस्थल प्रदेशोंमें छायावाले वृक्ष बहुत कम होते हैं इसलिये मार्गमें रास्तागीरोंको बहुत तकलीफ होती है। वे थके हुए रास्तागीर जब किसी छायादार वृक्षको पाते हैं तब बड़े खुशी होते हैं और उसकी सघन शीतल छायामें बैठकर अपना सब परिश्रम भूल जाते हैं। इसीतरह संसाररूप मरुस्थलमें आप जैसे छायादार वृक्षोंकी बहुत कमी है, इसलिये मोक्ष-नगरको जानेवाले पथिक रास्तामें बहुत तकलीफ उठाते हैं। पर जब उन्हें आप जैसे छायादार वृक्षकी प्राप्ति होजाती है तब वे बहुत ही खुश होते हैं और आपके आश्रयमें बैठकर अपने सब दुःख भूल जाते हैं ॥ २ ॥

शार्दूलविक्रीडित छन्द।

स्वामिन्नद्य विनिर्गतोऽस्मि जननीगर्भान्धकूपोदरा-
दद्योद्घाटितदृष्टिरस्मि फलवज्जन्मास्मि चाद्य स्फुटम्।

त्वामद्राक्षमहं यदक्षयपदानन्दाय लोकत्रयी-
नेत्रेन्दीवरकाननेन्दुममृतस्यन्दिप्रभाचन्द्रिकम् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(स्वामिन्) हे नाथ ! (यत्) जिस कारणसे (अहम्) मैंने (लोकत्रयीनेत्रेन्दीवरकाननेन्दुम्) त्रिभुवनके जीवोंके नेत्ररूपी कुमुद वनको विकसित करनेके लिये चन्द्रमारूप तथा (अमृतस्यन्दिप्रभाचन्द्रिकम्) जिनकी कान्तिरूपी चांदनी अमृतको प्रवाहित करती है ऐसे (त्वाम) आपको (अक्षयपदावन्दाय) अविनाशी पदके आनन्दके लिये (अद्राक्षम) देखा अर्थात् आपके दर्शन किये [तत्] उस कारणसे (स्पष्टम्) स्पष्ट है कि (अद्य) आज मैं (जननीगर्भान्धकूपोदरात्) माताके गर्भरूप अंधेरे कुएसे (विनिर्गतः अस्मि) निकला हूं, (अद्य उद्घाटितदृष्टि अस्मि), आज प्रगट हुई दृष्टि जिसकी ऐसा हुआ हूं (च) और (अद्य फलवजन्मा अस्मि) आज सफल जन्म हुआ हूं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आज आपके दर्शन कर मैं समझता हूं कि आज ही पैदा हुआ हूं । क्योंकि मेरा अवतकका समय आपके दर्शनके विना व्यर्थ ही गया । आज ही मेरी दृष्टि खुली है, आपके पहले मानों में देखते हुए भी अन्धा था, और आज ही मेरा जन्म सफल हुआ है ॥ ३ ॥

निःशेषत्रिदशेन्द्रशेखरशिखारत्नप्रदीपावली-
सान्द्रीभूतमृगेन्द्रविष्टरतटीमाणिक्यदीपावलिः ।
केयं श्रीः क च निःस्पृहत्वमिदमित्यूहातिगस्त्वादृशः
सर्वज्ञानदृशश्चरित्रमहिमा लोकेश लोकोत्तरः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(निःशेषत्रिदशेन्द्रशेखरशिखारत्नप्रदीपावली सान्द्री-

भूतमृगेन्द्रविष्टरतटीमाणिक्यदीपावलिः) समस्त इन्द्रोंके मुकुटोंके अग्र भागपर लगे हुए रत्न-रूप दीपकोंकी पङ्क्तिसे सघन हैं सिंहासनके तटपर लगे हुए मणिमय दीपकोंकी पङ्क्ति जिसमें ऐसी (इदम् श्रीः) यह लक्ष्मी (क) कहां? (च) और (इदम्) यह (निःस्पृहत्वम्) निःस्पृहता-इच्छाका अभाव (क्व) कहां? (इति) इस प्रकार (लोकेश) हे त्रिभुवनके स्वामिन्! (त्वादृशः) आप जैसे सर्वज्ञानी सर्वदर्शीकी (लोकोत्तरः) सर्वश्रेष्ठ (चरित्रमहिमा) चारित्रकी महिमा (ऊहातिगः 'अस्ति') तर्कके अगोचर है।

भावार्थ—हे भगवन्! आप समवसरण रूप लक्ष्मीसे सहित होनेपर भी उसमें स्पृहासे रहित हैं इससे मालूम होता है आपका चरित्र 'ऐसा क्यों है'? इस तर्कका विषय नहीं है ॥ ४ ॥

राज्यं शासनकारिनाकपति यत्त्यक्तं तृणावज्ञया
हेलानिर्दलितत्रिलोकमहिमा यन्मोहमल्लो जितः ।
लोकालोकमपि स्वबोधमुकुरस्यान्तः कृतं यत्त्वया
सैषाश्चर्यपरम्परा जिनवर क्वान्यत्र सम्भाव्यते ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(जिनवर) हे जिनेन्द्र! (शासनकारिनाकपति) आज्ञाकारी है इन्द्र जिसमें ऐसा राज्य (यत्) जो (त्वया) आपके द्वारा (तृणावज्ञया) तृण जैसी अनादर बुद्धिसे (त्यक्तम्) छोड़ दिया गया है, (हेला निर्दलितत्रिलोकमहिमा) अनायास ही खण्डित कर दी है तीन लोकके जीवोंकी महिमा जिसने ऐसा (मोहमल्लः) मोहरूपी मल्ल (यत्) जो (जितः) जीता गया है तथा (यत्) जो (लोकालोकम् अपि) लोक अलोकका समाहार-समूह भी (स्वबोधमुकुरस्य अन्तः कृतम्) अपने ज्ञानरूप दर्पणके भीतर किया गया है सो (एषा सा आश्चर्यपरम्परा) यह प्रसिद्ध आश्च-

र्थकी परिपाटी (अन्यत्र क) आपको छोड़कर दूसरी जगह कहां (संभाव्यंते) संभव हो सक्ती है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपने विशाल राज्यको तृणके समान तुच्छ समझ कर छोड़ दिया, आपने त्रिलोक-विजयी मोहमल्लको जीत लिया और आपने लोक अलोकका ज्ञान प्राप्त कर लिया। यह विशेषता आपको छोड़कर अन्य मत सम्बन्धी देवोंमें नहीं हो सक्ती ॥ ५ ॥

दानं ज्ञानधनाय दत्तमसकृत्पात्राय सद्वृत्तये
चीर्णान्युग्रतपांसि तेन सुचिरं पूजाश्च बह्व्यः कृताः।
शीलानां निचयः सहामलगुणैः सर्वः समासादितो
दृष्टस्त्वं जिन येन दृष्टिसुभगः श्रद्धापरेण क्षणम् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ-(जिन) हे जिनेन्द्र! (दृष्टिसुभगः) आंखोंको प्यारे लगनेवाले (त्वम्) आप (येन श्रद्धापरेण) जिस श्रद्धालुके द्वारा (क्षणम्) एक क्षणभर भी (दृष्टः) देखे गये हो मानों (तेन) उसने (ज्ञानधनाय) ज्ञान ही है धन जिसका ऐसे तथा (सद्वृत्तये) सदाचारी (पात्राय) पात्रके लिये (असकृत्) कईवार (दानम्) दान (दत्तम्) दिया है, (उग्रतपांसि चीर्णानि) कठिन तपस्याओंका संचय किया है, (सुचिरम्) चिरकाल तक (बह्व्यः पूजाः कृता) अनेक पूजाएं की हैं और (अमलगुणैः सह) निर्मल गुणोंके साथ (शीलानां सर्वः निचयः समासादितः) शीलव्रतोंका सब समूह प्राप्त कर लिया है।

भावार्थ—हे भगवन्! जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक आपके दर्शन करता है उसे पात्र दान करने, तप आचरने, पूजा करने तथा शीलव्रत धारण करनेका फल लगता है ॥ ६ ॥

प्रज्ञापारमितः स एव भगवान्पारं स एव श्रुत-
स्कन्धाब्धेर्गुणरत्नभूषण इति श्लाघ्यः स एव ध्रुवं ।
नीयन्ते जिन येन कर्णहृदयालङ्कारतां त्वद्गुणाः
संसाराहिविषापहारमणयस्त्रैलोक्यचूडामणेः ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(त्रैलोक्यचूडामणे ! जिन !) हे त्रिभुवनके चूडामणि स्वरूप ! जिनेन्द्रदेव ! (संसाराहिविषापहारमणयः) संसाररूपी सांपके विषको हरनेके लिये मणि स्वरूप (तद्गुणाः) आपके गुण (येन) जिसके द्वारा (कर्णहृदयालंकारताम्) कान तथा मनके आभूषणपनेको (नीयन्ते) प्राप्त कराये जाते हैं (ध्रुवम्) निश्चयसे (सः एव) वही (प्रज्ञापारम् इतः) बुद्धिके पारको प्राप्त हुआ (भगवान्) भगवान्—ऐश्वर्यवान् हैं (सः एव श्रुतस्कन्धाब्धेः पारम्) वही शास्त्र-समुद्रका अन्तिम तट है और (सः एव) वही (गुणरत्नभूषणः) गुणरूपी रत्न ही हैं आभूषण जिसके (इति) इस तरह (श्लाघ्यः) प्रशंसनीय है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जो आपके गुणोंको सुनकर हृदयमें धारण करता है वही बुद्धिमान्, ऐश्वर्यवान्, ज्ञानवान् और गुणरूपी रत्नोंसे भूषित होता है ॥ ७ ॥

मालिनी छन्द ।

जयति दिविजवृन्दान्दोलितैरिन्दुरोचि-
र्निचयरुचिभिरुच्चैश्चामरैर्वीज्यमानः ।
जिनपतिरनुरज्यन्मुक्तिसाम्राज्यलक्ष्मी-
युवतिनवकटाक्षक्षेपलीलां दधानैः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(दिविजवृन्दान्दोलितैः) देवसमूहके द्वारा संचालित, (इन्दुरोचिर्निचयरुचिभिः) चन्द्रमाकी किरण-समूहके समान

उज्वल कान्तिके धारी तथा (अनुरज्यन्मुक्तिसाम्राज्यलक्ष्मीयुवति-कटाक्षक्षेपलीलाम् दधानैः) अनुराग करनेवाली मोक्षनगरकी राज्य-लक्ष्मी रूप तरुण स्त्रीके कटाक्ष-संचारकी शोभाको धारण किये हुए (उच्चैः) उन्नत (चामरैः) चँवरोंके द्वारा (वीज्यमानः) ढोले जानेवाले (जिनपतिः) जिनेन्द्र भगवान् (जयति) जयवन्त हैं–सबसे उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ–हे भगवन्! आपके दोनों ओर देवगण जो सफेद चँवर ढोर रहे हैं वे चँवर आपमें आसक्त हुई मुक्तिकी राज्यलक्ष्मी-रूप स्त्रीके सफेद कटाक्षोंकी तरह शोभायमान होते हैं। उन चँवरोंसे आप संसारमें सर्वश्रेष्ठ मालूम होते हैं ॥ ८ ॥

स्रग्धरा छन्द।

देवः श्वेतातपत्रत्रयचमरिरुहाशोकभाश्चक्रभाषा-
पुष्पौघासारसिंहासनसुरपटहैरष्टभिः प्रातिहार्यैः।
साश्चर्यैर्भ्राजमानः सुरमनुजसभाम्भोजिनीभानुमाली
पायान्नः पादपीठीकृतसकलजगत्पालमौलिर्जिनेन्द्रः ॥९॥

अन्वयार्थ–(साश्चर्यैः) आश्चर्ययुक्त (श्वेतातपत्रत्रयचमरिरुहाशोकभाश्चक्रभाषापुष्पौघासारसिंहासनसुरपटहैः) सफेद छत्रत्रय, चँवर, अशोकवृक्ष, भामण्डल, दिव्यध्वनि, पुष्प-समूहकी वृष्टि, सिंहासन और देव दुन्दुभिरूप (अष्टभिः प्रातिहार्यैः) आठ प्रतिहार्योंके द्वारा (भ्राजमानः) शोभायमान (सुरमनुजसभाम्भोजिनीभानुमाली) देव और मनुष्योंकी सभाको विकसित करनेके लिये सूर्य तथा (पाद-पीठीकृतसकलजगत्पालमौलिः) जिन्होंने सब राजाओंके मुकुटोंको अपने पांवोंका पीठ-आसन बनाया है ऐसे (जिनेन्द्रः देव) जिनेंद्र-देव (नः पायात्) हम सबकी रक्षा करें।

भावार्थ—जो आठ प्रातिहार्योंसे शोभायमान हैं; जो मनुष्य और देवोंकी सभाको हर्षित करते हैं तथा जिनके चरणोंमें जगतके सब राजा अपना मस्तक झुकाते हैं वे जिनेन्द्रदेव हमारी रक्षा करें।

नृत्यत्स्वर्दन्तिदन्ताम्बुरुहवननटन्नाकनारीनिकाय:
सद्यस्त्रैलोक्ययात्रोत्सवकरनिनदातोद्यमाद्यन्निलिम्पः ।
हस्ताम्भोजातलीलाविनिहितसुमनोदामरम्यामरस्त्री-
काम्यः कल्याणपूजाविधिषु विजयते देव देवागमस्ते ॥१०

अन्वयार्थ-(देव) हे देव ! (ते) आपके (कल्याणपूजाविधिषु) पञ्चकल्याणकोंके पूजा कार्यमें, (नृत्यत्स्वर्दन्तिदन्ताम्बुरुहवननटन्नाकनारीनिकायः) नृत्य करते हुए ऐरावत हाथीके दांतोंपर स्थित कमल वनमें नृत्य कर रहा है देवाङ्गनाओंका समूह जिसमें ऐसा, (सद्यः) शीघ्र ही (त्रैलोक्ययात्रोत्सवकरनिनदातोद्यमाद्यन्निलिम्पः) त्रिभुवनमें यात्राके उत्सवको करनेवाली है ध्वनि जिसकी ऐसे बाजोंसे हर्षित होरहे हैं देव जिसमें ऐसा, तथा (हस्ताम्भोजातलीलाविनिहितसुमनोदामरम्यामरस्त्रीकाम्यः) हस्तकमलोंके द्वारा क्रीड़ापूर्वक धारण की गई फूलोंकी मालाओंसे रमणीय देवियोंके द्वारा सुन्दर (देवागमः) देवागमन (विजयते) जयवन्त है-सर्वोत्कृष्ट है।

भावार्थ-हे भगवन्! आपके कल्याणकोंमें जो देवोंका आगमन होता है वह संसारमें सबसे उत्कृष्ट है-उसकी जय होवे ॥ १० ॥

शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

चक्षुष्मानहमेव देव भुवने नेत्रामृतस्यन्दिनं
त्वद्वक्त्रेन्दुमतिप्रसादसुभगैस्तेजोभिरुद्भासितम् ।
तेनालोकयता मयाऽनतिचिराच्चक्षुः कृतार्थीकृतं
द्रष्टव्यावधिवीक्षणव्यतिकरव्याजृम्भमाणोत्सवम् ॥११॥

अन्वयार्थ-(देव) हे देव ! (येन) जिस कारणसे (नेत्रामृत-स्यन्दिनम्) आंखोंमें अमृत झरानेवाले तथा (अतिप्रसादसुभगैः) अत्यन्त प्रसन्नतासे सुन्दर (तेजोभिः) तेजके द्वारा (उद्भासितम्) शोभायमान (त्वद्वक्त्रेन्दुम्) आपके मुखचन्द्रको (आलोकयता) देखते हुए (मया) मैंने (द्रष्टव्यावधिवीक्षणव्यतिकरव्याजृम्भमाणोत्सवम्) दर्शनीय वस्तुओंकी सीमाके देखनेरूप व्यापारसे बढ़ रहा है उत्सव जिनका ऐसी (चक्षुः) आंखोंको (अनतिचिरात्) शीघ्र ही (कृतार्थीकृतम्) कृतार्थ किया है [तेन] उस कारणसे (भुवने) संसारमें (अहम् एव) मैं ही (चक्षुष्मान् 'अस्मि') नेत्रवान् हूं।

भावार्थ-हे भगवन् ! जिन्होंने आपके दर्शन किये हैं संसारमें उन्हींके नेत्र सफल हैं-वे ही नेत्रवान् कहलाते हैं ॥ ११ ॥

वसन्ततिलका।

कन्तोः सकान्तमपि मल्लमवैति कश्चि-
न्मुग्धो मुकुन्दमरविन्दजमिन्दुमौलिं।
मोघीकृतत्रिदशयोषिदपाङ्गपात-
स्तस्य त्वमेव विजयी जिनराज ! मल्लः ॥१२॥

अन्वयार्थ—(जिनराज) हे जिनेन्द्र ! (कश्चित् मुग्धः) कोई मूर्ख (कन्तोः) कामदेवके विषयमें (मुकुन्दम्) श्रीकृष्ण (अरविन्दजम्) ब्रह्मा और (इन्दुमौलिम्) महादेवको (सकान्तम् अपि) स्त्रियोंसे सहित होने पर भी (मल्लम्) मल्ल (अवैति) मानता है। किंतु (मोघीकृतत्रिदशयोषिदपाङ्गपातः) व्यर्थ कर दिया है देवांगनाओंका कटाक्षपात जिनने ऐसे (त्वम् एव) आप ही (तस्य) उस कामके (विजयी) जीतनेवाले (मल्लः) शूरवीर हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! कोई अज्ञानी जीव कहते हैं कि श्रीकृ-

ष्णने कामको जीता था, कोई कहते हैं कि ब्रह्माने जीता था और कोई कहते हैं कि महादेवने जीता था, पर उनका यह कहना मिथ्या है, क्योंकि ये तीनों ही देवता देव अवस्थामें भी स्त्रियोंसे सहित थे। जो कामको जीत लेता है—कामविकारसे रहित होता है उसे स्त्री रखनेकी क्या आवश्यक्ता ? परंतु आपके ऊपर मनुष्य-स्त्रियोंकी क्या बात, देवांगनाएं भी अपना असर नहीं डाल सकीं, इसलिये कामदेवके सच्चे विजेता आप ही हैं ॥ १३ ॥

मालिनी छन्द ।

किसलयितमनल्पं त्वद्विलोकाभिलाषा-
त्कुसुमितमतिसान्द्रं त्वत्समीपप्रयाणात् ।
मम फलितममन्दं त्वन्मुखेन्दोरिदानीं
नयनपथमवाप्ताद्देव ! पुण्यद्रुमेण ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (मम) मेरा (पुण्यद्रुमेण) पुण्यरूपी वृक्ष, (त्वद्विलोकाभिलाषात्) आपके दर्शन करनेकी इच्छासे (अनल्पम्) अत्यधिक (किसलयितम्) पल्लवोंसे व्याप्त हुआ था, (त्वत्ससीपप्रयाणात्) आपके पास जानेसे (अतिसान्द्रम्) अतिसघन (कुसुमितम्) फूलोंसे व्याप्त हुआ और (इदानीम्) इस समय (त्वन्मुखेन्दोः) आपके मुख चन्द्रमासे (अमन्दम्) अत्यन्त (फलितम्) फलोंसे व्याप्त हुआ है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके दर्शन करनेकी इच्छासे पुण्य-रूपी वृक्ष लहलहा उठा था । आपके पास जानेसे उसमें फूल लग जाते हैं और आपका साक्षात् दर्शन पालेने पर उसमें फल लग जाते हैं । आपका दर्शन अत्यन्त पुण्यका कारण है ॥ १३ ॥

त्रिभुवनवनपुष्प्यत्पुष्पकोदण्डदर्प-
प्रसरदवनवाम्भोमुक्तिसूक्तिप्रसूतिः ।
स जयति जिनराजव्रातजीमूतसङ्घः
शतमखशिखिनृत्यारम्भनिर्वन्धवन्धुः ॥१४॥

अन्वयार्थ—(त्रिभुवनवनपुष्प्यत्पुष्पकोदण्डदर्पप्रसरदवनवाम्भोमुक्तिसूक्तिप्रसूतिः) तीन लोक रूपी वनमें वढ़ते हुए कामदेव-संवन्धी अहंकारके प्रसार रूपी दावानलको वुझानेके लिये नूतन जलवृष्टिरूप सुन्दर उपदेशकी है उत्पत्ति जिससे ऐसे, तथा (शतमखशिखिनृत्यारम्भनिर्वन्धवन्धुः) इन्द्ररूपी मयूरके नृत्य प्रारम्भ करनेमें आग्रहकारी वन्धुस्वरूप (सः) वह (जिनराजव्रातजीमूतसङ्घः) जिनेन्द्र समूह रूप मेघोंका समुदाय (जयति) जयवन्त है अर्थात् सबसे उत्कृष्ट है ।

भावार्थ—जिनका उपदेश काम अग्निको नष्ट करनेके लिये जलधाराके समान है और जिनके सामने स्वर्गका इन्द्र मनोहर नृत्य करता है वे जिनेन्द्र देव संसारमें सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ १४ ॥

भूपालस्वर्गपालप्रमुखनरसुरश्रेणिनेत्रालिमाला-
लीलाचैत्यस्य चैत्यालयमखिलजगत्कौमुदीन्दोर्जिनस्य ।
उत्तंसीभूतसेवाञ्जलिपुटनलिनीकुड्मलास्त्रिः परीत्य
श्रीपादच्छाययापास्थितभवदवथुः संश्रितोऽस्मीव मुक्तिम् ।१५

अन्वयार्थ—(भूपालस्वर्गपालप्रमुखनरसुरश्रेणिनेत्रालिमालालीलाचैत्यस्य) चक्रवर्ती और इन्द्र हैं प्रधान जिनमें ऐसे मनुष्य और देवसमूहके नेत्ररूपी भ्रमर पंक्तिकी क्रीड़ाके लिये चैत्यवृक्ष तथा (अखिलजगत्कौमुदीन्दोः) सम्पूर्ण संसाररूप कुमुद समूहके

लिये चन्द्रमा स्वरूप (जिनस्य) जिनेन्द्र देवके (चैत्यालयं त्रिः परीत्य) मंदिरकी तीन प्रदक्षिणा देकर (उत्तंसीभूतसेवाञ्जलिपुटनलिनीकुड्मलः) आभरणरूप किया है सेवासे वह अञ्जलिपुटरूप कमलिनीके मुकुल (वौंडी) जिसने ऐसा तथा (श्रीपादच्छायया) आपके श्री चरणकी छायाके द्वारा (अपस्थितभवदवथुः) दूर होगया है संसारका सन्ताप जिसका ऐसा मैं (मुक्तिम् इव संश्रितः अस्मि) मानों मुक्तिको ही प्राप्त होगया हूं ।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके मन्दिरकी तीन परिक्रमा देकर जब आपके चरणोंके समीप हाथ जोड़कर वैठता हूं तब मुझे जो आनंद होता है उससे मैं समझने लगता हूं कि मैं अब मुक्तिको ही प्राप्त होगया हूं ॥ १५ ॥

वसन्ततिलका छन्द ।

देव त्वदङ्घ्रिनखमण्डलदर्पणेऽस्मि-
न्नर्घ्ये निसर्गरुचिरे चिरदृष्टवक्त्रः ।
श्रीकीर्तिकान्तधृतिसङ्गमकारणानि
भव्यो न कानि लभते शुभमङ्गलानि ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ-(देव) हे देव ! (अर्घ्ये) प्रशंसनीय और (निसर्गरुचिरे) स्वभावसे सुन्दर (अस्मिन् त्वदङ्घ्रिनखमण्डलदर्पणे) आपके इस नखमण्डलरूपी दर्पणमें (चिरदृष्टवक्त्रः) वहुत समयतक देखा है मुख जिसने ऐसा (भव्यः) भव्यजीव (श्री कीर्तिकांतिधृतिसंगमकारणानि) लक्ष्मी, यश, कान्ति और धीरजकी प्राप्तिके कारण स्वरूप (कानि शुभमङ्गलानि) किन शुभ मङ्गलोंको (न लभते) नहीं प्राप्त होता ? अर्थात् सभीको होता है ।

भावार्थ-हे भगवन् ! जो भव्य आपके नखमण्डलरूपी दर्पणमें

अपना मुँह देखता है—अर्थात् आपके चरणोंमें नमस्कार करता है वह हरएक तरहके मङ्गलोंको प्राप्त होता है। लोकमें दर्पणमें मुँह देखना मङ्गलका कारण माना जाता है ॥ १६ ॥

जयति सुरनरेन्द्रश्रीसुधानिर्झरिण्याः
कुलधरणिधरोयं जैनचैत्याभिरामः।
प्रविपुलफलधर्मानोकहाग्रप्रवाल-
प्रसरशिखरशुम्भत्केतनः श्रीनिकेतः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(सुरनरेन्द्रश्रीसुधानिर्झरिण्याः) देवेन्द्र और राजाओंकी लक्ष्मी रूप अमृतके झिरनोंकी उत्पत्तिके लिये (कुलधरणिधर) कुलाचल, तथा (प्रविपुलफलधर्मानोकहाग्रप्रवालप्रसरशिखरशुम्भत्केतनः) अत्यधिक फलवाले धर्मरूप वृक्षके अग्रभाग पर स्थित किसलयसमूहकी शिखरकी तरह शोभायमान है पताका जिसपर ऐसा (श्रीनिकेतः) लक्ष्मीको गृहस्व रूप (अयम्) यह (जैनचैत्याभिरामः) जिनेन्द्र देवका चैत्यालय (जयति) जयवन्त है—सबसे उत्कृष्ट है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपका वह मंदिर संसारमें सबसे उत्कृष्ट है जिसमें भक्तिपूर्वक जानेसे देवेन्द्र तथा राजा—महाराजाओंकी सम्पत्ति प्राप्त होती है जिस पर मनोहर पताका फहरा रही है और जो लक्ष्मीका घर है ॥ १७ ॥

विनमदमरकान्ताकुन्तलाक्रान्तिकान्ति-
स्फुरितनखमयूखद्योतिताशान्तरालः।
दिविजमनुजराजव्रातपूज्यक्रमाब्जो
जयति विजितकर्मारातिजालो जिनेन्द्रः ॥१८॥

अन्वयार्थ—(विनमदमरकान्ताकुन्तलाक्रान्तकान्तिस्फुरितनख-

मयूखद्योतितदिगन्तरालः) नमस्कार करती हुई देवांगनाओंके केशोंमें प्रतिबिम्बित कांतिसे शोभायमान नखचन्द्रकी किरणोंसे प्रकाशित कर दिया है दिशाओंका मध्यभाग जिनने ऐसे, तथा (दिविजमनुजराजव्रातपूज्यक्रमाब्जः) देव और मनुष्योंके राजसमूहसे पूजने योग्य हैं चरणकमल जिनके ऐसे, और (विजितकर्मारातिजालः) जीत लिया है कर्मरूपी शत्रुओंका समूह जिनने ऐसे (जिनेन्द्रः) जिनेन्द्रदेव (जयति) जयवन्त हैं—सर्वोत्कृष्ट रूपसे वर्तमान हैं ।

भावार्थ—जिनके चरणोंके नखोंकी कांतिसे दशोंदिशाएं प्रकाशमान हैं, जिनके चरणोंकी देवेन्द्र और नरेन्द्र पूजा करते हैं तथा जिन्होंने कर्मोंका क्षय कर दिया है ऐसे जिनेन्द्रदेव ही सबसे उत्कृष्ट हैं ॥ १८ ॥

वसन्ततिलका छन्द ।

सुप्तोत्थितेन सुमुखेन सुमङ्गलाय
द्रष्टव्यमस्ति यदि मङ्गलमेव वस्तु ।
अन्येन किं तदिह नाथ तवैव वक्त्रं
त्रैलोक्यमङ्गलनिकेतनमीक्षणीयम् ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे स्वामिन् ! (सुप्तोत्थितेन) सोकर उठे हुए (सुमुखेन) सुन्दर मुखवाले पुरुषके द्वारा (सुमङ्गलाय) कल्याणकी प्राप्तिके लिये (यदि मङ्गलम् एव वस्तु द्रष्टव्यम् अस्ति) यदि मङ्गलरूप ही वस्तु देखी जानी चाहिये (तत्) तो (अन्येन किम्) औरसे क्या ? (त्रैलोक्यमङ्गलनिकेतनम्) तीनों लोकोंके मङ्गलोंके घरस्वरूप (तव वक्त्रम् एव) आपका मुख ही (ईक्षणीयम्) देखना चाहिये ।

भावार्थ—यदि सोकर उठनेके बाद नियमसे किसी मङ्गल

वस्तुको देखना चाहिये ऐसा नियम है तो जिनेन्द्र भगवान्‌के मुखको ही देखिये क्योंकि वह सब मंगलोंका घर है ॥ १९ ॥

शार्दूलविक्रीडित छन्द।

त्वं धर्मोदयतापसाश्रमशुकस्त्वं काव्यबन्धक्रम-
क्रीडानन्दनकोकिलस्त्वमुचितः श्रीमल्लिकाषट्पदः।
त्वं पुन्नागकथारविन्दसरसी हंसस्त्वमुत्तंसकैः
कैर्भूपाल न धार्यसे गुणमणिस्रङ्मालिभिर्मौलिभिः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(भूपाल) हे जगत्पालक! (त्वम्) आप (धर्मोदय-तापसाश्रमशुकः) धर्मके अभ्युदयरूपी तपोवनके तोता हैं (त्वम्) आप (काव्यबन्धक्रमक्रीडानन्दनकोकिल) काव्यरचनाकी क्रमक्रीडा रूप नंदनवनके कोकिल हैं। (त्वम्) आप (पुन्नागकथारविंद-सरसीहंसः) श्रेष्ठ पुरुषोंकी कथारूपी कमलसरोवरके हंस हैं और (त्वम्) आप (उत्तंसकैः) अपने आपको भूषित करने-सजानेवाले (कैः) किन पुरुषोंके द्वारा (गुणमणिस्रङ्मालिभिः) गुणरूप मणियोंकी मालाके समूहसे उपलक्षित (मौलिभिः) मुकुटोंके द्वारा (न धार्यसे) धारण नहीं किये जाते? अर्थात् सभीके द्वारा धारण किये जाते हैं?

भावार्थ—हे भगवन्! जिस प्रकार तोता तपोवनकी शोभा बढ़ाता है उसी प्रकार आप भी धर्मके उदयकी शोभा बढ़ाते हैं। जिसप्रकार कोयल अपनी मीठी आवाजसे नन्दन वनकी शोभा बढ़ा देता है उसीप्रकार आप भी अपने चरित्रसे काव्यरचनाकी शोभा बढ़ा देते हैं अर्थात् जिस काव्यरचनामें आपका चरित्र लिखा जाता है वहुत सुन्दर होजाती है। जिस प्रकार भौंरा मालतीके फूलोंका रसास्वाद करता है उसीप्रकार आप भी अनन्तचतुष्टयरूपी लक्ष्मीका

रसास्वाद करते हैं। जिसप्रकार हंस कमलोंके वनकी शोभा बढ़ाता है उसीतरह आप भी श्रेष्ठ पुरुषोंकी कथाओंकी शोभा बढ़ाते हैं। और जिस प्रकार अपने आपको अलंकृत करनेवाले पुरुष मालाओंसे शोभायमान मुकुटोंको अपने शिरपर धारण करते हैं उसीप्रकार अपने आपको उत्तम बनानेवाले मनुष्य आपको अपने मस्तकसे धारण करते हैं अर्थात् शिर झुकाकर प्रणाम करते हैं ॥ २० ॥

मालिनी ।

शिवसुखमजरश्रीसङ्गमं चाभिलष्य
स्वमभिनियमयन्ति क्लेशपाशेन केचित् ।
वयमिह तु वचस्ते भूपतेर्भावयन्त-
स्तदुभयमपि शश्वल्लीलया निर्विशामः ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ-(केचित्) कितने ही मनुष्य (शिवसुखम्) मोक्ष-सुख (च) और (अजरश्रीसंगमम्) देवोंकी लक्ष्मीके संगमको (अभिलष्य) चाहकर (स्वम् अभि) अपने आपको (क्लेशपाशेन) दुःखोंके समूहसे (नियमयन्ति) नियमित करते हैं-अर्थात् तरह तरहकी तपस्याओं और व्रत आदिके कठिन नियमोंसे अपने आपको दुःखी करते हैं (तु) किन्तु (वयम्) हम लोग (शश्वत्) हमेशा (इह) इस संसारमें (ते भूपतेः) आप जगतपालकके (वचः भावयन्तः) वचनोंकी भावना करते हुए (लीलया) अनायास ही (तदुभयम् अपि) उन दोनों अर्थात् मोक्ष और स्वर्गको (निर्विशामः) प्राप्त होजाते हैं ।

भावार्थ-हे प्रभो ! जो मनुष्य आपके सिद्धान्तोंसे परिचित नहीं हैं-वे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्तिके लिये तरह तरहके नियम करते हैं-कठिन तपस्याओंके क्लेश उठाते हैं फिर भी उन्हें प्राप्त नहीं कर

पाते, पर हम लोग आपके उपदेशका रहस्य समझकर अनायास ही उन दोनोंको प्राप्त कर लेते हैं। आपके वचनोंकी महिमा अपार है ॥२१

शार्दूलविक्रीडित ।

देवेन्द्रास्तव मज्जनानि विदधुर्देवाङ्गना मङ्गला-
न्यापेठुः शरदिन्दुनिर्मलयशो गन्धर्वदेवा जगुः ।
शेषाश्चापि यथानियोगमखिलाः सेवां सुराश्चक्रिरे
तत्किं देव वयं विदध्म इति नश्चित्तं तु दोलायते ॥२२॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (देवेन्द्राः) इन्द्रोंने (तव) आपका (मज्जनानि विदधुः) अभिषेक किया, (देवाङ्गनाः मङ्गलानि आपेठुः) देवाङ्गनाओंने मङ्गलपाठ पढ़े, (गन्धर्वदेवाः) गन्धर्व देवोंने (शरदिन्दुनिर्मलयशः जगुः) शरदृऋतुके चन्द्रमाकी तरह उज्ज्वल यश गाया (च) और (शेषाः अपि अखिलाः सुरा) बाकी बचे हुए समस्त देवोंने (यथानियोगम्) अपने कर्तव्यके अनुसार (सेवाम् चक्रिरे) सेवा की (तत् वयंतु किं विदध्मः) अब हमलोग क्या करें (इति) इसप्रकार (नः) हमारा (चित्तम) मन (दोलायते) चञ्चल होरहा है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! करनेयोग्य जो सेवाएं थीं उन्हें सब देव-देवियां कर चुकीं, अब हम लोग आपकी कौनसी सेवा करें ? इसतरह हमारा चित्त निरन्तर विचारोंके हिंडोलेमें झूलता रहता है ॥ २२ ॥

देव त्वज्जननाभिषेकसमये रोमाञ्चसत्कञ्चुकै-
र्देवेन्द्रैर्यदनर्ति नर्त्तनविधौ लब्धप्रभावैः स्फुटम् ।
किञ्चान्यत्सुरसुन्दरीकुचतटप्रान्तावनद्धोत्तम-
प्रेङ्खद्वल्लकिनादझङ्कृतमहो तत्केन संवर्ण्यते ॥२३॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव! (त्वज्जननाभिषेकसमये) आपके जन्माभिषेकके समय (नर्तनविधौ) नृत्य कार्यमें (लब्धप्रभावैः) प्राप्त किया है प्रभाव जिन्होंने ऐसे (देवेन्द्रैः) इन्द्रोंने (रोमाञ्चसत्कञ्चुकैः) रोमांचरूप कंचुक वस्त्रको धारण करते हुए (यत् स्फुटम् अनर्ति) जो स्पष्ट नृत्य किया गया था (किं च अन्यत्) और जो (सुरसुन्दरीकुचतटप्रान्तावनद्धोत्तमप्रेङ्खद्वल्लकिनादझङ्कृतम्) देवांगनाओंके स्तन तटके समीप बन्धी हुई उत्तम शब्द करती हुई वीणाके शब्दकी झङ्कार हुई थी (अहो तत् केन वर्ण्यते) आश्चर्य है कि उस सबका वर्णन किससे होसकता है ? अर्थात् किसीसे नहीं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जन्माभिषेकके समय इन्द्रने जो नृत्य किया था और देवाङ्गनाओंने वीणा बजाई थी उसका वर्णन कोई नहीं कर सकता ॥ २३ ॥

देव त्वत्प्रतिबिम्बमम्बुजदलस्मेरेक्षणं पश्यतां
　　यत्रास्माकमहो महोत्सवरसो दृष्टेरियान्वर्तते ।
साक्षात्तत्र भवन्तमीक्षितवतां कल्याणकाले तदा
　　देवानामनिमेषलोचनतया वृत्तः सः किं वर्ण्यते ॥२४

अन्वयार्थ-(देव) हे देव ! (अम्बुजदलस्मेरेक्षणम्) कमलकी पांखुड़ीकी तरह विकसित है नेत्र जिसमें ऐसे (त्वत्प्रतिबिम्बम्) आपके प्रतिबिम्ब-प्रतिमाको (पश्यताम्) देखनेवाले (अस्माकम्) हम लोगोंकी (दृष्टेः) आंखोंको (यत्र) जहां (अहो) आश्चर्यकारक (इयान्) इतना (महोत्सवरसः) महान् आनन्द (वर्तते) होरहा है (तत्र) वहां (तदा) उससमय (कल्याणकाले) पञ्चकल्याणकोंके कालमें (अनिमेषलोचनतया) टिमकार रहित नेत्रोंसे (भवन्तम्)

आपको (साक्षात्) साक्षात् रूपसे (ईक्षितवताम्) देखनेवाले (देवानाम्) देवोंके (वृत्तः) प्रकट हुआ (सः) वह आनंद (किम्) क्या (वर्ण्यते) वर्णित किया जासक्ता है अर्थात् नहीं किया जासक्ता।

भावार्थ–हे भगवन् ! जब हमें आपकी जड़ प्रतिमाके दर्शन करनेसे इतना अपार आनंद होता है तब कल्याणकोंके समय आपके दर्शन करनेवाले देवोंको जो आनन्द होता होगा उसका कौन वर्णन कर सक्ता है ? ॥ २४ ॥

दृष्टं धाम रसायनस्य महतां दृष्टं निधीनां पदं
दृष्टं सिद्धरसस्य सद्म सदनं दृष्टं च चिन्तामणेः ।
किं दृष्टैरथवानुषङ्गिकफलैरेभिर्मयाद्य ध्रुवं
दृष्टं मुक्तिविवाहमङ्गलगृहं दृष्टे जिनश्रीगृहे ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—(जिनश्रीगृहे) जिनमन्दिर अथवा जिनेन्द्ररूप लक्ष्मीगृहके (दृष्टे 'सति') देखे जानेपर (मया) मैंने (रसायनस्य धाम दृष्टम्) रसायनका घर देख लिया, (महतां निधीनाम् पदं दृष्टम्) बड़ी बड़ी निधियोंका स्थान देख लिया, (सिद्धरसस्य) सिद्ध हुए रस–औषधिविशेषका (सद्म दृष्टम्) घर देख लिया, (च) और (चिन्तामणेः) चिन्तामणि रत्नका (सदनम् दृष्टम्) घर देख लिया। (अथवा दृष्टैः एभिः आनुषाङ्गिकफलैः किम्) अथवा देखे हुए इन गौण फलोंसे क्या लाभ है ? (ध्रुवम्) निश्चयसे (अद्य) आज [मया] मैंने (मुक्तिविवाहमङ्गलगृहम् दृष्टम्) मुक्तिरूपी कन्याके विवाहमङ्गलका घर देख लिया है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका दर्शन, रसायन, निधि, सिद्ध-

रस, और चिन्तामणिकी तरह उपकारी तो है ही परन्तु मुक्ति प्राप्तिका भी कारण है ॥ २५ ॥

दृष्टस्त्वं जिनराजचन्द्र ! विकसद्भूपेन्द्रनेत्रोत्पले
स्नातं त्वन्नुतिचन्द्रिकाम्भसि भवद्विद्वच्चकोरोत्सवे ।
नीतश्चाद्य निदाघजः क्लमभरः शान्तिं मया गम्यते
देव ! त्वद्गतचेतसैव भवतो भूयात्पुनर्दर्शनम् ॥२६॥

अन्वयार्थ—(जिनराजचन्द्र) हे जिनेन्द्रचन्द्र ! (मया त्वम् दृष्टः) मैंने आपके दर्शन किये तथा (विकसद्भूपेन्द्रनेत्रोत्पले) जिसमें राजाओंके नेत्ररूपी कुमुद फूल रहे हैं ऐसे तथा (भवद्विद्वच्चकोरोत्सवे) जिसमें विद्वानरूप-चकोर पक्षियोंको आनन्द होरहा है ऐसे (त्वन्नुति-चन्द्रिकाम्भसि) आपकी स्तुतिरूप जलमें (स्नानम्) स्नान किया (च) और (अद्य) आज (निदाघजः) सन्तापसे उत्पन्न हुआ (क्लमभरः) खेदका समूह (शान्तिम् नीतः) शान्तिको प्राप्त कराया (देव) हे देव ! (त्वद्गतचेतसा एव मया गम्यते) अब मैं आपमें ही चित्त लगाता हुआ जाता हूं (भवतः दर्शनम् पुनः भूयात्) आपके दर्शन फिर भी हों ।

भावार्थ—हे भगवन् ! मैंने आपके दर्शन किये और स्तुति भी की । तथा मनका समस्त सन्ताप भी दूर किया । अब मैं जाता हूं, पर मेरा चित्त आपमें ही लग रहा है । मैं प्रार्थना करता हूं कि मुझे आपके दर्शन फिर भी प्राप्त होवें ।

इति भूपालकविप्रणीता जिनचतुर्विंशतिका समाप्ता ।